व्यक्ति
का
विकास

प्रो० राजाराम शास्त्री ❀ रमाशंकर शुक्ल

व्यक्ति का विकास

लेखक

रमाशंकर शुक्ल

श्रम-कल्याण अधिकारी

धनबाद

भूमिका-लेखक

प्रो० राजाराम शास्त्री

आचार्य

समाज विज्ञान विद्यालय

अध्यक्ष

समाजशास्त्र एवं समाज-सेवा विभाग

काशी विद्यापीठ

वाराणसी

प्रकाशक :—
गिरीश कुमार
डी० २४/१६ एम०
औरंगाबाद
वाराणसी

मूल्य—२)

मुद्रक :—
रामलखन मौर्य, एल-एल० बी०
भारतीय भाषा मुद्रणालय
चेतगंज, वाराणसी ।



लेखक

सस्नेह समर्पण

सौभाग्यवती शान्तिदेवी को

जिसका कि बुद्धि-विकास विलक्षण है

भूमिका

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मनुष्य के जीवन में जन्म से आरम्भ करके वृद्धावस्था तक उत्तरोत्तर जितने विकासात्मक परिवर्तन होते हैं उन सबको 'सामाजिक विश्वास' के आधार पर समझा जा सकता है। 'सामाजिक विश्वास' का अर्थ है—अपने अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति में विश्वास। जीवन के आरम्भ में माता ही एक व्यक्ति होती है जो बच्चे के लिए अत्यन्त व्यापक महत्व रखती है। बच्चे का सारा जीवन उसी पर आश्रित रहता है। इस समय माता का बच्चे से जो और जैसा व्यवहार होता है वही बच्चे के प्रथम सामाजिक अनुभव का आधार बनता है और इसी अनुभव के आधार पर वह अपनी सामाजिक मनोवृत्तियों को प्राप्त करता है। सामाजिक मनोवृत्तियों का मूल 'सामाजिक विश्वास' है। इसी विश्वास के आधार पर सारे सामाजिक कारोबार खड़े होते हैं। जिस व्यक्ति में इस विश्वास की कमी होती है वह या तो असामाजिक अथवा समाज विरोधी व्यक्ति होता है या उसका सामाजिक जीवन अपूर्ण व असफल होता है—जिससे उसका व्यक्तिगत जीवन भी अवरुद्ध, सीमित, कुंठित और अतृप्त रहता है। क्योंकि मानव-जीवन सामाजिक जीवन है और मानव-व्यक्ति समाज से ओत-प्रोत होता है। उसका कोई काम समाज की सहायता के बिना नहीं चलता और उसका हर काम सामाजिक नियमों, बन्धनों और परम्पराओं से अनुप्रेरित तथा प्रतिबद्ध होता है। इसलिए यदि मनोवैज्ञानिक और समाजसेवी मानव-व्यवहार सम्बन्धी अनुभव से इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि मानव व्यक्ति का सारा विकास 'सामाजिक विश्वास' का ही विकास है तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इस दृष्टि से जब हम मनुष्य के जीवन की विभिन्न अवस्थाओं

को देखते हैं तो हमें बाल्यावस्था से वृद्धावस्था तक 'सामाजिक विश्वास' के उत्तरोत्तर पुष्ट होते हुए रूप का साक्षात्कार होता है और प्रत्येक अवस्था में इस विश्वास का जितना विचलन दिखाई देता है मानव-जीवन में उतनी ही कठिनाइयों की प्रतीति होती है। इस प्रकार के अध्ययन के लिए हमें उन कारणों की खोज करनी होगी जिनसे मनुष्य सामाजिक-विश्वास के प्रशस्त मार्ग से विचलित होता है और यह भी देखना होगा कि प्रत्येक कारण के फलस्वरूप जीवन में कौन-कौन-सी विशेष प्रकार की कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं और फिर यदि यह भी देखा जा सके कि एक बार उत्पन्न होने पर भी इन कठिनाइयों का क्या और कहाँ तक उपचार हो सकता है तो यह अध्ययन अपने प्रयोजन को सिद्ध करेगा।

मनुष्य के जीवन में विकास की दृष्टि से आठ अवस्थायें मानी गई हैं, (१) मुखकामावस्था (२) गुद्कामावस्था (३) इडिपलकामावस्था (४) तिरोहितकामावस्था (५) किशोरावस्था (६) पूर्वप्रौढ़ावस्था (७) मध्यप्रौढ़ावस्था (८) उत्तरप्रौढ़ावस्था। यह विकास शारीरिक होता है और साथ ही मानसिक भी। जैसे-जैसे बच्चे के शरीर का और शारीरिक शक्तियों का विकास होता जाता है उसके समानान्तर उसका मानसिक विकास भी होता जाता है। मानसिक विकास शारीरिक विकास के साथ बड़ी घनिष्ठता से जुड़ा रहता है। विकास की प्रत्येक अवस्था में जिन शारीरिक शक्तियों का विकास होता है वे ही उसकी मानसिक प्रवृत्तियों का आधार और प्रतीक बनती हैं। जब बच्चा हाथ से चीजों को पकड़ना सीखता है तब वह मन से भी विषयों और आलम्बनों को ग्रहण करना सीखता है। मानो हाथ से किसी चीज को पकड़ना मन या बुद्धि से विषयों को पकड़ने अर्थात् समझने का भौतिक प्रतीक हो। दूसरी ओर से देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि मानसिक क्रियायें, शारीरिक क्रियाओं का विस्तार मात्र हैं। शारीरिक शक्तियाँ ही अपने अनुकूल मानसिक शक्तियों या प्रवृत्तियों का

रूप धारण करती हैं और यही कारण हो सकता है कि भाषा में मानसिक शक्तियों को उन्हीं शब्दों से द्योतित किया गया है जिनसे उस अवस्था की समानान्तर शारीरिक शक्तियों को। इस दृष्टि से हमें मनुष्य की अवस्थाओं का निरूपण करते समय प्रत्येक अवस्था की एक मूल प्रवृत्ति को पकड़ना होगा जिसके दो पक्ष होंगे; एक शारीरिक और एक मानसिक। साथ ही साथ हम यह भी देखते हैं कि किसी भी अवस्था की मूलशक्ति या प्रवृत्ति पहले पहल शरीर के किसी विशेष भाग में विकसित होती है जिसे हम उस प्रवृत्ति का क्षेत्र कह सकते हैं। इन क्षेत्रों को 'काम-क्षेत्रों' का नाम दिया गया है। इसमें कुछ विचित्रता प्रतीत हो सकती है। किन्तु मनोवैज्ञानिक परिभाषा को जान लेने पर यह विचित्रता समाप्त हो जाती है। वास्तव में मनोवैज्ञानिकों ने मानव-जीवन में दो ही मूल प्रवृत्तियों को माना है। एक 'आत्मरक्षा' की प्रवृत्ति और दूसरी 'प्रेम' की प्रवृत्ति। एक स्वनिष्ठ है और दूसरी परनिष्ठ। जहाँ तक मनुष्य अपने जीवन की रक्षा और उसके विस्तार में सचेष्ट रहता है वहाँ तक वह आत्म-रक्षा की प्रवृत्ति के अन्दर काम कर रहा है और जब वह अपने जीवन की आवश्यकताओं के क्षेत्र से बाहर निकल कर किसी अन्य व्यक्ति में अनुराग व्यक्त करता है तो वह 'प्रेम' अथवा 'काम' के क्षेत्र में व्यवहार करता है। यहाँ 'काम' 'प्रेम' का समानार्थक है। यहाँ उसका अर्थ केवल स्त्री-पुरुष के बीच उत्पन्न होने वाली काम-वासना नहीं है। अपने से अन्य कोई भी व्यक्ति हो—माता-पिता, भाई-बहन, बच्चे और मित्र आदि सभी प्रेम के आलम्बन हो सकते हैं और मनोवैज्ञानिक वात्सल्य, भक्ति, श्रद्धा तथा मैत्री आदि सभी प्रकार के प्रेम को काम की ही संज्ञा देते हैं। एक और बात भी ध्यान देने की है। जब मानव जीवन में दो ही प्रवृत्तियाँ होती हैं तो फिर मनुष्य की सारी चेष्टायें इन्हीं दोनों में से किसी न किसी के अन्तर्गत समाविष्ट होनी चाहिये। कोई प्रवृत्ति जो जीवन रक्षा की आवश्यकताओं से अतिरिक्त दिखाई देती है, चाहे शरीर

में या मन में, तो यह स्पष्ट है कि वह काम-प्रवृत्ति है, चाहे उसका आलम्बन और उद्देश्य अभी स्पष्ट न होता हो। ऐसी कई प्रवृत्तियाँ जीवन के क्रम में अलग-अलग विकसित होती हुई दिखाई देती हैं। आगे चल कर यह दिखाई देता है कि ये सब प्रवृत्तियाँ नितान्त स्वतंत्र रूप नहीं रखतीं किन्तु एक निश्चित समय पर सब मिल-जुल कर एक पूर्ण प्रवृत्ति का रूप धारण करती हैं और तब यह स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है कि इसका आलम्बन कोई इतर व्यक्ति होता है अर्थात् मनोवैज्ञानिक परिभाषा में यह काम-प्रवित्त होती है और जिन प्रवृत्तियों ने समय-समय पर विकसित होकर अपनी इस चरम परिणति के लिए प्रतीक्षा की थी वे सब वास्तव में इसी की खंड-प्रवृत्तियाँ थीं। यह न भूलना चाहिये कि इन खंड-प्रवृत्तियों में भी शारीरिक और मानसिक दोनों पक्ष विद्यमान रहते हैं।

प्रत्येक अवस्था की मूल प्रवृत्ति, चाहे वह खंड-प्रवृत्ति हो या पूर्ण प्रवृत्ति, आरम्भ में तो अत्यन्त सरल और मुख्यतः शारीरिक रूप में होती है; आगे चल कर उसी की नींव पर अत्यंत जटिल मानसिक व्यवहारों का निर्माण होता है जिनके सम्बन्ध में यह समझना भी कठिन हो जाता है कि ये उसी मूल प्रवृति से निकली हैं। उदाहरण के लिए, एक जिद्दी बच्चा जो शौच-शिक्षा के प्रसंग में समय पर मल-मूत्र त्याग करने के अनुशासन का प्रतिरोध करता है और माता को तंग करने के लिए शौच-क्रिया को बहुत देर तक रोक लेता है वह बच्चा आगे चल कर एक बड़ा कंजूस हो सकता है। क्योंकि वह धन को रोक रखना चाहता है और धन मल का प्रतीक है। इस मनोवैज्ञानिक सत्य को समझने में कठिनाई हो सकती है किन्तु वास्तविकता यह है कि रोक रखना एक मूल प्रवृत्ति है जिसका उदय बच्चे की दूसरी अवस्था अर्थात् गुद्कामावस्था में होती है। पहले रोकने की क्रिया मल-मूत्र से ही आरम्भ होती है। इस समय तक बच्चे के पास कोई ऐसी चीज होती

ही नहीं जिसे वह रोक रक्खे। अभी तक यानी जब तक माता बच्चे के मल-मूत्र विसर्जन की क्रिया में हस्तक्षेप नहीं करती, तब तक इन्हें रोकने का कोई प्रश्न भी नहीं होता। माता की शौचानुशासन चेष्टा के प्रतिरोध में ही पहले पहल बच्चा स्पष्टरूप से किसी ऐसी चीज को रोक कर उसके प्रति अपना क्रोध जाहिर करना चाहता है जो उसकी अपनी है। इस रूप में मल-मूत्र ही बच्चे की प्रारम्भिक सम्पत्ति है। अब आगे चलकर जब धीरे-धीरे शारीरिक रूप से अर्थात् हाथ-पैर से अथवा मानसिक रूप से रोकने की प्रवृत्ति का जब विभिन्न रूपों और जटिलताओं में विकास होता है तब वही रोकने की प्रवृत्ति अपने प्रारम्भिक सरल रूप से इतनी दूर जा पड़ती है कि उसे समझने में भी कठिनाई होती है तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। उदाहरण के लिए, जब हम न केवल वस्तुओं को संचित रखते हैं या व्यक्तियों को अपने कब्जे में रख कर उनके व्यवहार को नियंत्रित करना चाहते हैं बल्कि अपने विचारों और भावनाओं को गुप्त रख कर बाहर नहीं जाने देना चाहते तो वास्तव में हम उसी अवरोधक्रिया का प्रदर्शन करते हैं जिसका मूल रूप हमने मल-मूत्र को रोकने में देखा है। इस उदाहरण से स्पष्ट हो जाएगा कि मूल-प्रवृत्तियों में किस प्रकार आगे चल कर सरल से जटिल और शारीरिक से मानसिक रूप की प्रधानता हो जाती है, किन्तु प्रवृत्ति वही होती है और उसका मूल रूप ही उसके सारे विकसित रूपों का प्रतिमान होता है। उसी नमूने पर उन सब को समझा जा सकता है और जब किसी वयस्क मनुष्य की विकृत प्रवृत्तियों की चिकित्सा करनी होती है तो हमें प्रायः उनके मूल रूप पर जाना होता है।

जन्म से एक वर्ष तक की अवस्था को मनोवैज्ञानिकों ने 'मुखकामावस्था' नाम दिया है। इसमें भी दो भाग किये गये हैं—'चोषण-काल' और 'दंशन-काल'। पहिले ६ महीने तक 'चोषण-काल' रहता है। बच्चा माता का स्तनपान करता है। इस क्रिया में वह अपने मुख का प्रयोग

अपनी भूख मिटाने के लिए अर्थात् अपनी जीवन-रक्षा के लिए चोषण के रूप में करता है। किन्तु हम देखते हैं कि बच्चे का पेट भर जाने पर भी इस क्रिया में वह स्वतंत्र रूप से प्रवृत्त होता है। ऐसी अवस्था में उपर्युक्त मनोवैज्ञानिक परिभाषा के अनुसार उसकी यह प्रवृत्ति मुख-काम की प्रवृत्ति कहलाएगी जिसका क्षेत्र मुख है और आलम्बन माता का स्तन। अभी तक माता स्वयं उसके प्रेम का आलम्बन नहीं बनी है। धीरे-धीरे अपनी मानसिक शक्तियों के विकास के साथ वह यह समझ लेता है कि स्तन माता का अंग है और उस पर ही उसका जीवन आश्रित है। पहले तो जब उसकी आँतों में भूख की पीड़ा होने लगती है तो वह बेचैन हो जाता है किन्तु स्तनपान के बाद वह संतुष्टि का अनुभव करता है। पहले तो उसे इस बात का कोई अनुमान नहीं होता कि उसकी पीड़ा का कोई अन्त होगा किन्तु बार-बार जब इस पीड़ा की शान्ति होने लगती है और जैसे जैसे उसके मस्तिष्क में पहले के अनुभवों को स्मृति के रूप में संचित करने की क्षमता विकसित होती जाती है वह प्रत्येक पीड़ा के साथ उसकी संतुष्टि की पूर्व-कल्पना कर के अपने को आश्वस्त कर लेता है जिसके कारण अब उसकी पीड़ा अनन्त और नितान्त प्रतिकाररहित नहीं रह जाती। उसे विश्वास रहता है कि यह शीघ्र ही दूर हो जाएगी। इस प्रकार उसकी नितान्त अस-हायावस्था समाप्त हो जाती है और वह अपने को सर्वथा निराश्रित नहीं समझता। इस आन्तरिक विश्वास के कारण उसके दुःख की तीव्रता भी कम हो जाती है और वह तृप्ति की प्रतीक्षा में बदल जाती है जिसमें दुःख के साथ सुख का भी पूर्वाभास निश्चित रहता है। इस आन्तरिक विश्वास के साथ-साथ जब वह अपनी तृप्ति के बाहरी साधन अर्थात् आलम्बन के स्वरूप को भी एक व्यक्ति के रूप में समझ लेता है तो उसका यह आन्तरिक विश्वास अपने से इतर एक व्यक्ति अर्थात् माता के प्रति विश्वास के रूप में उदित होता है जोकि 'सामाजिक विश्वास'

की पहली सीढ़ी है। यह इस प्रकार होता है कि बच्चा देखता है कि माता उसे निश्चित समय पर दूध पिलाती है और यह समय उसकी भूख के आसपास ही होता है। इस विश्वास के कारण वह बीच बीच में माता की अनुपस्थिति को सहन करने की क्षमता प्राप्त करता है और संयम का पहिला पाठ सीखता है। अपनी वासनाओं की तृप्ति को स्थगित अथवा विलम्बित करना ही आत्म-संयम की मनोवैज्ञानिक परिभाषा है। पहले तो बच्चा थोड़ी ही देर तक अपनी तुष्टि को विलम्बित कर सकता है। धीरे-धीरे माता के कौशल से बच्चे के विश्वास की बढ़ती हुई गहराई के साथ उसकी तुष्टि-स्थगन की अवधि बढ़ती जाती है, साथ ही साथ उसके जीवन में अव्यवस्था के स्थान पर व्यवस्था का उदय होता है। पहले तो बच्चा जिन शारीरिक प्रवृत्तियों को लेकर पैदा होता है वे स्वयं अव्यवस्थित होती हैं। उसकी शारीरिक क्रियायें एक दूसरे से सम्बद्ध नहीं रहतीं और अलग-अलग चलती हैं चाहे उन्हें मिल कर एक ही उद्देश्य की सिद्धि करनी हो। उदाहरण के लिए, पाचन-क्रिया में सहायक रस किसी और समय उत्पन्न होते हैं और स्तनपान की इच्छा किसी और समय। माता के हस्तक्षेप से स्तनपान की इच्छा को तब तक रुकना पड़ता है जब तक पाचक रसों का स्राव न हो। इस प्रकार विभिन्न शारीरिक प्रवृत्तियों में एक उद्देश्य स्थापित होता है और साथ ही साथ बाहर से समय का एक क्रम निर्धारित होता है। बच्चा उस उद्देश्य को तो अभी नहीं समझता किन्तु समय की व्यवस्था का अभ्यासी अवश्य हो जाता है जोकि व्यवस्था का बाहरी रूप है। उसका आन्तरिक रूप विभिन्न शारिरिक तथा मानसिक प्रवृत्तियों का परस्परानुकूलन है जिससे परस्पर सहयोग के साथ जीवन-रक्षा के उद्देश्यों की पूर्ति कर सकें। इस प्रकार बच्चे के जीवन में इस अवस्था में हम दो सामाजिक गुणों का विकास देखते हैं—एक तो आत्म-संयम और दूसरा समय का अनुशासन। ये दोनों गुण माता के

प्रति 'सामाजिक विश्वास' के आधार पर ही उत्पन्न होते हैं। इस विश्वास की अभिव्यक्ति बच्चे की मुस्कान से होती है और स्तनपान की आसानी, नींद की गहराई और मल-मूत्र-विसर्जन की आसानी के रूप में प्रगट होती है। धीरे-धीरे बच्चे के नींद के घंटे कम होते जाते हैं और वह अपने जीवन के आलम्बन-रूप व्यक्तियों को देखने और सुनने का अधिक अवसर पाता है। उनके व्यवहार में उसे जो समानता एकरसता और स्थिरता मिलती है उसके आधार पर न केवल वह उन बाहरी व्यक्तियों के व्यक्तित्व को ग्रहण करता है अपितु स्मृति-रूप में इसी समानता के अनुभव से वह अपने को भी एक व्यक्ति के रूप में ग्रहण करता है। उसकी इन्द्रियों से उपलब्ध होनेवाले बाहरी व्यवहार में लगातार एकतानता को वह व्यक्ति के रूप में बुन लेता है और इन्हीं अनुभवों की आन्तरिक समानता के आधार पर उन सब के समन्वित और स्थिर रूप को वह अपने व्यक्तित्व के रूप में प्राप्त करता है। बाहर और भीतर की दुनिया से इस प्रकार वह परिचित होने की प्रतीति करता है और इस परिचितता के कारण उसके जीवन में जो निश्चितता उत्पन्न होती है उससे वह आनन्द-लाभ करता है और उसका 'सामाजिक विश्वास' और गहरा होता जाता है जिसमें न केवल परिचय की निश्चितता का आनन्द है वरन् बाहरी व्यक्तियों के आन्तरिक स्नेह का विश्वास भी है क्योंकि वे सदा उसकी इच्छाओं की पूर्ति करते हैं और यद्यपि उनके द्वारा लगाये गये प्रतिबन्ध उसे अनुशासित करते हैं किन्तु कुल मिला कर वह उनकी नेकनीयती का विश्वास रखता है और उनके अनुशासन में भी किसी न किसी हितकर उद्देश्य का आभास उसे होने लगता है। इसीलिए वह इस अनुशासन को न केवल सहन करता है बल्कि अंगीकार करता है अर्थात् अपने मन का ही एक अंग बना लेता है जिससे धीरे-धीरे यह अनुशासन बाहरी न होकर आन्तरिक हो जाता है और स्वेच्छा से प्रसूत होकर आनन्द-प्रद हो जाता है और वह माता के

चली जाने पर उस प्रकार चिंतित या क्रुद्ध नहीं होता जैसे कि पहले होता था। बाहरी अच्छाई और सुख को इस प्रकार आत्मसात करने की क्रिया को मनोविज्ञान में अध्यास का नाम दिया जाता है।

हमने देखा कि मुखकामावस्था के पहलेचरण अर्थात् चोषणकाल में बच्चे की कई उपलब्धियाँ हैं। वह बाहरी लोगों को व्यक्ति समझने लगता है फिर वह अपने को व्यक्ति समझने लगता है अर्थात् उसके 'स्व' का निर्माण होता है। उसमें आत्म-संयम आता है और समय की पाबन्दी के द्वारा उसकी शारीरिक क्रियायें व्यवस्थित होती हैं। उसकी विभिन्न शारीरिक तथा मानसिक प्रवृत्तियों के बीच पारस्परिक सहयोग तथा समन्वय स्थापित होता है और उसमें 'सामाजिक विश्वास' का उदय होता है जिसके आधार पर ही वह अपने सामाजिक गुणों अर्थात् आत्मसंयम तथा अनुशासन को प्राप्त करता है और अपने व्यवहार तथा व्यक्तित्व को सामाजिक बनाता है।

मुखकामावस्था का दूसरा भाग 'दंशनकाल' बच्चे में जन्म से लगभग छ महीने के बाद आरम्भ होता है जबकि बच्चे के दाँत निकलने लगते हैं। उस समय जबकि दाँत निकलनेवाले होते हैं बच्चे के मसूड़ों में इतनी टीस होती है कि वह हर चीज को काटना चाहता है क्योंकि काटने की क्रिया में मसूड़ों के दबने से उसकी टीस कम होती है। निकलनेवाले दाँत अन्दर से मसूड़ों को बाहर की ओर दबाते हैं जिस दबाव का प्रतिकार बाहर की ओर से किसी चीज के द्वारा उल्टे दबाव से ही हो सकता है। इसीलिए बच्चा हर चीज को मसूड़ों पर ला कर काटना चाहता है। अभी तक उसे इस बात का विश्वास जम चुका था कि उसकी आन्तरिक पीड़ाओं को माता तथा बाहर के अन्य व्यक्ति दूर करते रहते हैं, किन्तु दंशनकाल में इस विश्वास को एक नया झटका लगता है जबकि माता बच्चे के काटने पर अपने स्तन को हटा लेती है और अनेक उपाय ऐसे करती है जिससे वह काट न सके। कभी-कभी इस

प्रसंग में वह उसे दंड भी देती है। इसके परिणाम-स्वरूप बच्चे को अपनी तकलीफ़ अपने अन्दर ही झेलनी पड़ती है और दूसरे लोगों की असहायक मनोवृत्ति के कारण उसे जो क्रोध होता है उसे भी वह अपने सिवाय किसी और पर उतार नहीं सकता। इस प्रकार उसके अन्दर आत्मपीड़न प्रवृत्ति का उदय होता है जिसका अर्थ यह है कि जब मनुष्य किसी बाहरी वस्तु को अपनी पकड़ में नहीं पाता तो अपने को ही पीड़ा देने में सुख का अनुभव करता है।

बाहरी विश्वास के दहलने के साथ-साथ बच्चे का आन्तरिक विश्वास भी हिल जाता है। अब तक बाहर के लोग भी उसे भले और उपकारी ही प्रतीत होते थे और इस उपकार की प्रतिध्वनि-स्वरूप उसके अन्दर से जो कृतज्ञता का भाव उमड़ता था उसमें अपने अच्छेपन का भाव भी समाविष्ट था। 'लोग उससे स्नेह करते हैं' इसका अर्थ सिवाय इसके क्या हो सकता है कि वे उसे अच्छा और स्नेह के योग्य समझते हैं। इसके अतिरिक्त उनके उपकारों के बदले में वह उनका अनुशासन भी आनन्दपूर्वक स्वीकार करता था और इस प्रकार वह अपने को उनके मापदंड से और अच्छा बना लेता था। इससे अपनी आन्तरिक अच्छाई का विश्वास उसमें और भी बढ़ गया था। किन्तु अब उसका अनुभव इसके विपरीत होता है और बाहरी व्यक्तियों के दंडात्मक व्यवहार के कारण उसके अन्दर अपनी अच्छाई के स्थान पर अपने बुरे होने का भाव उदित होता है और वह अपने को अपराधी समझने लगता है। इस अपराध भावना के प्रसंग में दंड की आशंका उसके अन्दर एक नई चिंता के रूप में उत्पन्न होती है और इससे घबड़ा कर वह उस पूर्व परिचित अवस्था की खोज करने लगता है जिसमें इस प्रकार का कोई परिवर्तन नहीं होता था। किन्तु बाहरी और भीतरी अच्छाई का विश्वास तथा आनन्द निरन्तर समान रूप से बना रहता था। यदि वस्तुस्थिति ऐसी स्थिति को पुनः प्राप्त करने में बाधक है तो वह इस इच्छा की पूर्ति

काल्पनिक रूपों में करता है। यह इसी प्रकार हो सकता है कि जिस बुराई को हम अपने अन्दर खत्म नहीं कर सके उसे बाहर निकाल फेंके, अर्थात् बाहरी व्यक्तियों पर आरोपित करें और यह समझें कि बाहर के लोग भी बुरे हैं। आन्तरिक बुराई या दुख को इस प्रकार बाहर निकालने की क्रिया मनोवैज्ञानिक परिभाषा में 'आरोप' कहलाती है। यह अध्यास से ठीक विपरीत क्रिया है। धर्मों में तरह तरह का आत्मपीड़न करके देवताओं को प्रसन्न करने की चेष्टा आरोप की मूल प्रवृत्ति का ही एक रूप है, मानो जो देवता हमें भोग और भाग्य प्रदान करते हैं वे ही हम पर क्रुद्ध हों और आत्मपीड़न के दंड द्वारा ही शांत किये जा सकते हों—ठीक उस प्रकार जिस प्रकार कि माता से दंडित होने पर दंशनकालीन बच्चा सोचता है। इस प्रकार मनुष्य अपने को यह सांत्वना देता है कि प्रायश्चित्त और दंड-भोग के बाद उसकी आत्म-शुद्धि हो गई और उसे अपनी आन्तरिक तथा बाह्य अच्छाई तथा समानता की पुनः प्राप्ति का विश्वास हो जाता है। वह आश्वस्त हो जाता है कि बाहर के व्यक्ति अब उसके साथ उसी समानता और स्नेह का व्यवहार अपरिवर्तित रूप से करते रहेंगे जो उसे पहले प्राप्त था। साथ ही साथ उसे अपने पर भी यह विश्वास हो जाता है कि इस प्रकार आत्मदंड के द्वारा वह अपनी वासनाओं को इस प्रकार नियंत्रित कर सकता है जिससे बाहर के व्यक्तियों को उससे कोई खटका न रह जाय और वह उनके लिये तथा अपने लिए विश्वसनीय बन जाय। इस प्रकार हम देखते हैं कि दंशनकाल में बच्चे के 'सामाजिक विश्वास' पर एक नया आक्रमण हुआ किन्तु इस आक्रमण का प्रतिकार करने के लिए उसने आत्मपीड़न, अध्यास तथा आरोप की नई शक्तियों को विकसित किया और इनकी सहायता से वह अपने 'सामाजिक विश्वास' को न केवल पुनः स्थापित कर सका किन्तु और भी सशक्त बना सका। अब एक नये आत्मविश्वास के साथ वह जीवन क्रम

में आगे आनेवाली समस्याओं का सामना करने के लिए पहले से अधिक तैयार हो गया है।

मनुष्य की पहली अवस्था के इस उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस विषय के निरूपण की पद्धति और उसके सिद्धान्त क्या हैं। प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने मनुष्य की गर्भावस्था तथा उसके बाल्यावस्था से वृद्धावस्था तक की आठ अवस्थाओं का सांगोपांग निरूपण किया है। यह विषय संसार के लिए भी नया है और हिन्दी के पाठकों के लिए तो और भी नया है। यद्यपि इसमें मनोविज्ञान, चित्त-विश्लेषण, शरीरशास्त्र तथा समाजशास्त्र आदि अनेक विज्ञानों का योग है जोकि अपने आप में बहुत नये नहीं हैं, किन्तु इनकी उपलब्धियों का वह योग जिससे मनुष्य के जीवनविकास को सर्वांगीण रूप में प्रत्येक अवस्था में एक साथ ही देखा जा सकता है, एक नया क्षेत्र है। इससे लाभ यह होता है कि जीवन की किसी अवस्था को लिया जाय उसके शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक और सामाजिक पक्षों के अध्ययन के लिए अलग-अलग शरीरविज्ञान, मनोविज्ञान तथा समाजविज्ञान आदि विषयों को नहीं देखना पड़ता। ये सभी बातें एक ही स्थान पर मालूम हो जाती हैं और उनका जो घनिष्ठ-पारस्परिक सम्बन्ध है उसे तो इसी प्रकार के अध्ययन में देखा जा सकता है। अलग-अलग विज्ञानों के अध्ययन से जीवन का सम्बद्ध और समष्टिगत रूप सामने नहीं आता। पुस्तक के लेखक ने इस विषय का अच्छा अध्ययन किया है और उसे सुबोध शैली और सरल भाषा में निरूपित किया है। मुझे विश्वास है कि हिन्दी के पाठक इस प्रयास का समुचित उपयोग करेंगे। समाज-सेवा-विद्यालयों में यह विषय पाठ्यक्रम के अन्तर्गत होता है अतएव समाज सेवा के शिक्षार्थी तो इसका उपयोग करेंगे ही।

औरंगाबाद, वाराणसी।
क्रिस्मस, १९६२

—राजारामशास्त्री

दो शब्द

प्रस्तुत पुस्तक 'समाजसेवा' (सोशल वर्क) नामक नवीन किन्तु बृहत् विषय के एक उपविषय 'व्यक्ति का मनो-सामाजिक विकास' पर लिखी गई है ।

मुझे आज इस बात पर बड़ा हर्ष है कि इस विषय पर कुछ भी लिखने की चेष्टा करनेवाला मैं प्रथम भारतीय नागरिक हूँ । इतना ही नहीं, मेरी यह चेष्टा आप तक हिन्दी भाषा के माध्यम से पहुँच रही है जिससे कि मेरा हर्ष द्विगुणित हो रहा है। इस विषय पर हिन्दी में कुछ भी लिखना कितना दुरूह है, यह इस विषय में अभिरुचि रखनेवाले समझ सकते हैं ।

मैं, प्रस्तुत प्रयास की प्रेरक 'काशी विद्यापीठ' नामक वाराणसी की सुप्रसिद्ध संस्था का, जीवनभर ऋणी रहूँगा जहाँ से कि मुझे दृष्टिदान मिला है ।

श्रद्धेय गुरुवर प्रो० राजाराम शास्त्री जी ने भूमिका-लेखन के द्वारा मुझे जो स्नेहदान दिया है—आशा है वह मुझे पल्लवित-पुष्पित होने में समर्थ बनायेगा ।

कई रूपों में सहायक श्री तपेश वैद्य (काशी विद्यापीठ) तथा साथी श्री शोभनाथ पाण्डेय का भी मैं आभारी हूँ ।

लघुभ्राता-सम 'श्री गिरीश कुमार जी (प्रकाशक) को धन्य-वाद न देने का भार संवरण करने की क्षमता मुझमें नहीं—जिनके कि सतत् प्रयत्न के कारण ही यह कृति आप तक पहुँच सकी है ।

इच्छा है कि अभिभावक, छात्र एवं अध्यापकगण पुस्तक से लाभान्वित हों ।

स्वस्थ सुझाओं का सहर्ष स्वागत है । धन्यवाद !

मकर संक्रान्ति, २०१९
वाराणसी

—रमाशंकर शुक्ल

अध्याय-सूची

—:❀:—

अध्याय १

"गर्भाधान और गर्भ-विकास"

परिपक्व 'डिम्ब' या 'स्त्री बीज' के साथ पुरुष के 'शुक्रकीटाणु' के मिलन को गर्भाधान कहते हैं। सामान्यतः इन दोनों का मिलन स्त्री अन्तर्रचनानुसार 'बीजवाहिनी नलिका के पार्श्व भाग गर्भाधान में सम्पादित होता है। किन्तु कभी-कभी अन्य स्थान यथा 'बीजकोष' में ही इनका मिलन हो जाता है और वहीं 'गर्भ केन्द्र' (शुक्र कीटाणु के 'शिर' अर्थात 'पुरुष पूर्व केन्द्र के', परिपक्व 'स्त्री बीज' के केंद्र अर्थात 'स्त्री पूर्व केन्द्र से संयोग करने से जो एक कोषाणु बनता है उसे 'गर्भकेंद्र' कहते हैं) बृद्धि करने लगता है। आम तौर पर गर्भ केंद्र का अन्तर्वर्तन 'गर्भाशय' में ही होता है किन्तु कभी-कभी पहिले 'गर्भ केंद्र 'बीज वाहिनी' या 'उदरगुहा' में ही रुक कर बढ़ने लगते हैं। प्रत्येक सम्भोग के समय करोड़ों 'शुक्र कीटाणु' स्त्री योनि में प्रविष्ट हो जाते हैं। इनमें से कुछ 'गर्भाशय' से होते हुए 'बीज वाहिनी नलिका' में चले जाते हैं। इनमें बड़ी अच्छी गति होती है लगभग १ घण्टे में 'बीज वाहिनी' के अन्तिम छोर पर पहुँच सकते हैं। यदि इन्हें वहां पहुँचने पर एक भी जीवित 'स्त्री बीज' या 'डिम्ब' मिल जाता है तो वे उससे संयोग कर 'गर्भाधान क्रिया सम्पादित कर सकते हैं। यदि उन्हें कोई भी 'स्त्री बीज' नहीं मिलता तो वे कुछ दिनों के अन्दर प्राण हीन हो जाते हैं। वे शुक्रकीट जो कि स्त्री योनि के समीप 'गर्भाशय मुख' या 'गर्भाशय ग्रीवा' में ही रह जाते हैं, सम्भोग के उपरान्त २४ घण्टे में ही मर जाते हैं। 'स्त्री बीज' और 'शुक्रकीट' के मिलन में दोनों ही का हाथ रहता है। 'शुक्र कीट' अपने पुच्छ के

कारण गतिमान होकर स्त्री बीज की तरफ बढ़ता है। यद्यपि 'स्त्री बीज' में गति करने की स्वशक्ति नहीं है फिर भी अपनी एक विशिष्ट शक्ति से वह 'शुक्र कीट' को अपनी ओर खींचती है।

इस प्रकार इन दोनों का मिलन सरल हो जाता है। परिपक्व 'स्त्री बीज' के आवरण में अनेक 'शुक्र कीट' प्रविष्ट होना चाहते हैं, किंतु जब एक शुक्र कीट 'स्त्री बीज' में प्रवेश कर जाता है तब स्त्री बीज की बाहरी सतह पर एक प्रतिक्रिया होती है जिससे अन्य 'शुक्र कीटाणु' जल्दी ही 'स्त्री बीज' से अलग हो जाते हैं। 'स्त्री बीज' में 'शुक्रकीट' के प्रविष्ट हो जाने पर उसका पुच्छ क्षीण होकर शोषित हो जाता है।

जब स्त्री बीज और शुक्रकीट के मिलन से उत्पन्न एक ही गर्भ केन्द्र का विकाश होता है तो एक ही बच्चा पैदा होता है। किन्तु कभी-कभी हम जुड़वा बच्चों की बात सुनते हैं। जुड़वा बच्चे प्रायः दो प्रकार के तथा दो कारणों से हुआ करते हैं। इनमें से एक तो वे जुड़वा बच्चे हैं जिनका कि निर्माण या गर्भाधान एक ही समय में दो भिन्न भिन्न शुक्र-कीटाणुओं का दो भिन्न-भिन्न 'स्त्रीबीजों' के संयोग से होता है। गर्भाशय के अन्दर इन बच्चों का अपना अलग-अलग जल कुण्ड (पानी का झोला) तथा अपरा होता है। इस प्रकार विकसित होकर पैदा होने वाले बच्चे प्रायः देखने में एक सी सूरत के या अपने अन्य भाई बहनों की सूरत के नहीं होते। यद्यपि इस प्रकार सम्पादित गर्भाधान के फलस्वरूप पैदा होने वाले बच्चे एक ही लिंग (अर्थात् बालक-बालक या बालिका-बालिका) के भी हो सकते हैं, किन्तु प्रायः देखा जाता है कि ऐसे जुड़वा विपरीत लिंगी (एक बालक तथा एक बालिका) होते हैं। एक ही समय स्त्री के दो भिन्न बीज कोषों से अलग अलग एक एक स्त्री बीज के आने या एक ही बीज कोष से दो स्त्री बीज के आने और तदनन्तर दो शुक्र कीटाणुओं से अलग अलग मिलकर अलग अलग दो गर्भ केन्द्रों का निर्माण करने के फलस्वरूप ही इस प्रकार के जुड़वा बच्चों की सम्भावना हो पाती है।

दूसरी प्रकार के जुड़वा बच्चे वे है जो कि एक ही स्त्री बीज के साथ शुक्रकीटाणु के संयोग से तो बनते हैं किन्तु इस प्रकार से संयुक्त होने के उपरान्त शीघ्र ही उस संयुक्त रचना का दो अलग-अलग समान्तरिक विभाजन हो जाता है और उनका अलग अलग विकास होने लगता है। यह प्रक्रिया किस कारण से हो जाती है इसका ज्ञान अभी तक वैज्ञानिकों को नहीं हो पाया है। यद्यपि गर्भाशय में इस प्रकार के जुड़वा बच्चे एक ही अपरा (प्लेसेण्टा) से जुड़े रहते हैं किन्तु इनकी जलकुण्डी (पानी का झोला) तथा संवाहिनी-तन्तु रचना (अम्बिलिकल कॉर्ड) अलग अलग रहती हैं। इस प्रकार से विरचित और विकसित बच्चे सर्वदा सम लिंगी (अर्थात या तो दोनों ही बालक या दोनों ही बालिका) होते हैं। प्रायः इनकी शक्ल सूरत एक दूसरे से आपस में बिल्कुल ही मिलती जुलती सी रहती हैं।

उपरोक्त कथित दोनों प्रक्रियाओं से ही कभी-कभी तीन, चार या अधिक बच्चे भी विकसित और अवतरित होते हैं। कभी कभी दो से अधिक बच्चों के एक साथ गर्भ में विकसित होने का कारण उपरोक्त दोनों प्रक्रियाओं का मिलाप भी होता है।

प्रायः गर्भवती स्त्री, सम्भावी पिता या अन्य लोग यह जानना चाहते हैं कि भावी सन्तान बालक होगी या बालिका ? वे चाहते हैं कि उनकी इच्छानुसार लिंगधारिणी-संतति हो। किन्तु अभी तक इसका कोई उपाय नहीं ज्ञात हो सका है। यह पूर्णरूपेण भाग्य की बात है। अभी तक के वैज्ञानिक अनुसंधान पर केवल इतना ही जाना जा सका है कि स्त्री बीज से संयोग करने वाले पुरुष शुक्रकीट के प्रकारानुसार ही संतति-उत्पत्ति होती है। शुक्रकीट दो प्रकार के होते हैं। एक के कारण बालिका और दूसरे के कारण बालक की निस्पत्ति सम्भावित है। यदि स्त्री बीज से बालिका पैदा करने वाला शुक्रकीट मिलता है तो बालिका यदि बालक पैदा करने वाला मिलता है तो बालक पैदा होगा। आम तौर पर प्रत्येक

पुरुष वीर्य में इन दोनों प्रकार के शुक्रकीटों की संख्या समान सी पाई जाती हैं।

गर्भ विकास

हम देख चुके हैं कि स्त्री बीज और 'शुक्रकीट' के संयुक्त होने से एक पूर्णकोष 'गर्भकेन्द्र' की उत्पत्ति होती है। यह 'गर्भकेन्द्र' उन सभी गुणों से युक्त होता है जो कि भावी सन्तान में वंशानुक्रम से आने वाले होते हैं। माता और पिता दोनों के बहुत से वे गुण जो कि वंशानुक्रमानुसार पाये जा सकते हैं, बच्चे में इसी समय से विद्यमान रहते हैं। भावी बच्चे का तथा उसकी अनेक क्षेत्रों में विभिन्न क्षमताओं का बहुत कुछ निर्धारण इसी समय से हो चुका रहता है।

प्रथम सप्ताह

गर्भ केन्द्र की रचना के शीघ्र ही बाद यह गर्भ केन्द्र नामक कोष दो भागों में विभाजित हो जाता है। ये दो विभाजित कोष पुनः चार भागों में और इसी प्रकार फिर आठ तथा और अधिक भागों में विभाजित हो जाता है। ये दो विभाजित कोष पुनः चार भागों में विभाजित होते चले जाते हैं। उपरोक्त प्रकार से कोष विभाजन का प्रतिफलन शीघ्र ही 'भ्रूण' का रूप धारण कर लेता है। गर्भाधान से कुछ दिनों तक यह भ्रूण अपना आहार 'स्त्री बीज' के भीतरी स्तर में संचित सामग्री से प्राप्त करता है। धीरे धीरे यह संचित आहार समाप्त हो जाता है और 'भ्रूण' 'गर्भाशय' की ओर बढ़ता है। लगभग ४, ५ दिनों में वह गर्भाशय में पहुँच जाता है। गर्भाधान के छठें दिन तक भ्रूण बहुत से छोटे छोटे कोषों का एक समूह बन जाता है यह कोष समूह 'केलल' कहलाता है। व्यवस्थित रूप धारण के बाद यह 'कलल-कोषाणु' 'अन्तः' और 'बाह्य' कोषाणुओं में बँट जाते हैं। बाह्य कोषाणु 'गर्भपरिधि' का निर्माण करते हैं। अन्तः कोषाणु एक स्थान पर जमा होकर 'गर्भ ध्रुव' का निर्माण करते हैं। इसी गर्भध्रुव के स्थान पर भ्रूण विकसित होता है यहीं से उसे आहार सामग्री मिलती

है। गर्भाधान के दूसरे हफ्ते में पहिले का निर्मित कोष समूह तीन अलग-अलग कोष समूहों में बँट जाते हैं। इनमें से कुछ तो भ्रूण या बच्चे के काम में आते हैं, तथा कुछ अपरा का निर्माण करते हैं तथा भ्रूण को संवाहिनी-तन्तु-रचना से जोड़ते हैं। अन्य उन झिल्लियों में विकसित होते हैं जो कि गर्भ स्थित बच्चे की चारों ओर से घेर कर कई प्रकार से उसकी रक्षा करती हैं।

तीसरा सप्ताह

इस समय तक भ्रूण इतना विकसित हो चुकता है कि उसे मात्र आँखों से देखा जा सके। किसी भी सूक्ष्म दर्शी यंत्र की आवश्यकता नहीं रहती। अब शरीर के कई अंगों की रचनाओं की शुरूआत हो जाती है। सर और मष्तिष्क का रूप धारण करने वाला क्षेत्र बड़ी तेजी से विकसित होने लगता है। जिन स्थानों पर आँखें होंगी वहाँ पर थोड़ा सा गड्ढा बन जाता है। चौथे हफ्ते तक भ्रूण तेजी से विकसित होकर लगभग १/६ इञ्च लम्बा हो जाता है। इस समय से ही हृदय, मष्तिष्क फेफड़ों जिगर तथा पाचन संस्थान आदि आंतरिक रचनाओं के निर्माण का प्रारम्भण हो चलता है। यद्यपि हम श्रवण तो नहीं कर सकते किन्तु हृदय-धड़कन इसी समय से शुरू हो जाती है। भ्रूण एक अर्द्ध वृत्ताकार आकृति धारण कर लेता है और मेरुदंड का निर्माण शुरू हो चलता है। अन्य अंगों की अपेक्षा सर अधिक तेजी से विकसित होने लगता है। हाँथ और पैर की रचना भी शुरू हो चलती है। कई संकेतों से अब कोई स्त्री यह समझ सकती है कि वह गर्भवती है।

इस समय तक भ्रूण १/२ इञ्च लम्बा हो जाता है। अत्यन्त छोटे रूप में हाँथ और पैर अपनी उँगुलियों के साथ परिलक्षित होने लगते हैं।

छठा सप्ताह

शरीर की आंतरिक रचनाओं की विकास-गति तीव्र हो जाती है और भ्रूण एक पुच्छ और छोटे शरीर से जुटे हुए रूप में देखा जा सकता है।

सातवाँ सप्ताह

शरीर की आंतरिक रचनाएँ उस प्रकार से व्यवस्थित होना प्रारम्भ कर देती हैं, जिस प्रकार कि उन्हें भविष्य में रहना है। कान और आँख की पुतली की रचना प्रारम्भ हो जाती है। भ्रूण की स्थिति काफी स्पष्ट हो चलती है।

तीसरा महीना

इस महीने के प्रारम्भ तक 'अपरा' तथा उन झिल्लियों, की रचना जिनके अन्दर गर्भ-स्थित बच्चा रहता है, पूर्ण हो जाती है। इस समय तक गर्भ स्थित बच्चे की पूर्ण लम्बाई लगभग २½ इंच के, तथा वजन आधे औंस के हो चुका रहता है। शरीर से पुच्छ रचना विलुप्त हो चुकी रहती है। हाथ तथा पैर की अँगुलियों से झिल्लियाँ गायब हो चुकी रहती हैं। बच्चे का बाहरी चमड़ा बड़ा ही नाजुक पारदर्शी तथा पतला होता है।

चौथा महीना

इस महीने में हाँथ और पैर की अँगुलियाँ पूरी तौर पर निर्मित हो जाती हैं और उनमें बड़े ही महीन और छोटे-छोटे नाखून भी आने लगते हैं। मसूड़ों के काफी अन्दर दाँतों की रचना शुरू हो जाती है। वाह्य मैथुनिक यंत्रों का भी निर्माण हो जाता है। मस्तक पर छोटे बाल आने लगते हैं तथा सर कुछ उँचा और सीधा हो चलता है। इस महीने के अंत तक बच्चों का वजन प्रायः चार औंस तथा लम्बाई चार से पाँच इञ्च तक हो चुकती है। इसी समय से बच्चे की मांसपेशियाँ कार्यरत होने लगती हैं और कभी-कभी गर्भवती को यह भान भी होने लगता है कि बच्चा हिल-डुल रहा है।

पाँचवाँ महीना

इस महीने के अन्त तक बच्चे की लम्बाई आठ इञ्च तथा वजन लगभग साढ़े दस औंस के हो जाता है। गर्भ स्थिति बच्चे द्वारा हाथ पैर हिलाने डुलाने पर गर्भवतियों को यह स्पष्ट महसूस होने लगता है कि बच्चा इधर उधर घसक या अपने सीमित स्थान में ही स्थानांतरित हो

रहा है। इस समय बच्चे की हृदय धड़कन को यंत्र की सहायता से श्रवण किया जा सकता है।

छठवें से नवें महीने तक

इस समय बच्चे की लम्बाई तेज़ी से बढ़ती है। आठवाँ महीना होते-होते बच्चे का वाह्य चर्म सुर्ख और कुछ झुर्रीदार सा देखा जा सकता है। अंतिम दो महीनों के दरम्यान गर्भ-स्थित बच्चे में शारीरिक वसा (बाडी फैट) विरचित हो जाता है और वह अधिक मोटा और गोल मटोल सा हो जाता है। इस काल में बच्चे की वाह्य चमड़ी अति सूक्ष्म कोमल बालों से ढकी रहती है। छठवें महीने में बच्चा गर्भ के अन्दर इधर उधर स्थान परिवर्तन कर सकता है। वह कभी एक तरफ जायगा तो कभी दूसरी ओर। कभी उसका सिर गर्भवती के योनि द्वार की ओर होता है तो कभी पैर। किन्तु यह स्थिति सातवें महीने में समाप्त हो चलती है इस समय बच्चा एक स्थान पर स्थित हो जाता है। अब प्रायः या तो उसका सर अथवा कभी कभी पैर योनि द्वार की ओर तब तक के लिए हो जाता है जब तक कि वह पैदा नहीं हो जाता। जो बच्चे नौ महीने गर्भ में रहने के बाद जन्म लेते हैं. उनमें पूर्ण स्वास्थ्य और नई परिस्थिति में संतुलन स्थापन करने की पूर्ण क्षमता रहती है। यद्यपि बहुत ही कम किन्तु कभी कभी छः या सवा छः महीने तक ही गर्भ में रहने पर बच्चे पैदा हो जाते हैं। इन बच्चों की आन्तरिक रचनाएँ अशक्त और अपूर्ण विकसित रहती हैं इसी लिए ऐसे बच्चों के जीवित रहने की सम्भावना नहीं रहती है। साढ़े छः महीने के बाद जन्म लेने वाले बच्चों में जीवित रहने की उतनी ही अधिक सम्भावना बढ़ती जाती है जितना कि वे अधिक दिन तक गर्भ में रहकर नव संसार में आविर्भूत होते हैं। नवें महीने के अंत तक वाह्य चमड़ी को ढकने वाले मुलायम बाल काफी मात्रा में समाप्त हो जाते हैं और चमड़ा अपने स्वाभाविक रंग में आ जाता है। चमड़े के ऊपर मोटी पर्त में एक मुलायम

तरल स्राव जमा हो जाता है। बच्चे की आँखें काले रंग तथा सर मुलायम बाल से युक्त हो जाते हैं। जन्म के समय बालक, बालिकाओं से वजन में कुछ औंस अधिक होते हैं। प्रायः जन्म के समय बच्चों का भार साढ़े पाँच से साढ़े दस पौंड तथा लम्बाई १६ से १२ इंच तक होती है।

गर्भवती के स्वास्थ्य का गर्भस्थित बच्चे पर प्रभाव

गर्भवती स्त्री के स्वास्थ्य, आहार विहार आदि का गर्भ स्थित बच्चे की बौद्धिक और शारीरिक रचना तथा विकास से गहरा सम्बन्ध होता है। गर्भवती के लिए आवश्यक आहार या सुस्वास्थ्य के अभाव से बच्चों में अनेक प्रकार की दुर्बलताओं का सृजन या विकास हो जाता है।

यद्यपि गर्भ स्थित बच्चे की यह एक बड़ी विशेषता है कि उसे जिन तत्वों की जितनी भी जरूरत होती है उनकी व्यवस्था वह अपने लिए कर लेता है, चाहे इससे गर्भवती के स्वास्थ्य में भले ही गिरावट आए। फिर भी यदि अत्यधिक आहाराभाव की स्थिति पैदा हो जाती है तो बच्चे को भी आवश्यक तत्व पूरी मात्रा में नहीं मिल पाते। इस लिए गर्भवतियों को चाहिए कि डाक्टरों की सलाहानुसार आवश्यक और संतुलित मात्रा में आहार ग्रहण करें। आम तौर पर गर्भ स्थित बच्चों के लिए लौह, विटामिन, प्रोटीन, कैल्सियम तथा कभी कभी आयोडिन की भी जरूरत रहती है। प्रोटीन और कैल्सियम से हड्डी तथा शरीर रचना और विकास में सहायता मिलती है। लौह की आवश्यकता अधिक और स्वस्थ रक्त के लिए होती है। आवश्यक तथा स्वस्थ रक्त के अभाव में कभी कभी या तो गर्भ गिर जाता है या मरा हुआ बच्चा पैदा होता है अथवा बच्चे का मस्तिष्क कमजोर या विकृत हो जाता है। विटामिन्स शरीर के समस्त तन्तुओं और कोषाओं को कार्यरत रखने के लिए आवश्यक होते हैं। यद्यपि बहुत अल्पमात्रा में ही पर, शक्ति-सृजन के लिए, शर्करा, स्टार्स, और वसा

आदि की भी जरूरत हुआ करती है। चिकित्सक की सलाह के अनुसार काफी मात्रा में शुद्ध जल, दूध, अंडा, मक्खन, रोटी, मछली या अन्य जानवरों के जिगर या यकृत तथा दिल आदि के मांस, अनेक प्रकार यथा संतरा, अंगूर, पपीता सेवा, टमाटर, चुकन्दर, गाजर तथा अमरूद आदि हरे फल, हरी साग सब्जियों तथा सलाद आदि की मात्रा प्रत्येक गर्भवती स्त्री को अवश्य ही लेनी चाहिए। इनसे बच्चे तथा गर्भवती दोनों के स्वास्थ्य के लिए आवश्यक सभी चीजें मिल जाती हैं।

उपरोक्त तथा अन्य सभी प्रकार के भोजनों के तत्वों को गर्भ-स्थित बच्चा एक विशेष प्रकिया से ग्रहण करता है। माता का भोजन और आक्सीजन उसकी रक्तवाहिनी नाड़ियों (ब्लड वेसेल्स) से छनकर विशिष्ट रक्त वाहिनी नाड़ियों (स्पेशल ब्लड वेसेल्स) के द्वारों में प्रवेश करता है। पुनः वहाँ से अम्बिलिकल कॉर्ड से होता हुआ बच्चे के रक्त संबहन संस्थान (सर कुलेटरी सिस्टम) में पहुँच जाता है। इसी प्रक्रिया से कई एन्डो काइन सेक्रीसंस जैसे 'इन्सूलीन' तथा 'एडरेनलीन' आदि भी माता के रक्त संबहन संस्थान से छनकर बच्चे तक पहुँच जा सकते हैं। यदि कोई गर्भवती स्त्री शराब या अन्य मादक द्रव्यों का सेवन करती है, तो उनका भी असर इसी प्रक्रिया से बच्चे पर पड़ सकता है और बच्चे के मस्तिष्क में विकृति या दुर्बलता आ सकती है। बच्चे को आक्सीजन की काफी आवश्यकता रहती है। 'ऐसरीन' तथा 'बार विपुरेट स्लीपिंग पाइल्स' आदि के कारण आक्सीजन की मात्रा में कमी आ जाती है। इसलिए बच्चे के समुचित विकास के लिए इन वस्तुओं से गर्भवती को दूर रहना चाहिए।

अनेक प्रकार के ऐसे रोग होते हैं जिनसे कि यदि गर्भवती ग्रसित हो जाय तो गर्भस्थित बच्चे का या तो समुचित विकास नहीं हो पाता या बच्चे को भी वे ही रोग हो जाया करते हैं। यदि नव गर्भवती को बड़ी माता (स्माल पाक्स) कजपजिया माता (चिकेन पाक्स) छोटी माता

(मीजल्स) गालो माता (ममूल्स) स्कार्लेट फीवर रीकरेन्ट फीवर उपदंश या गर्मी (सिफलिस) या एरी सिफलिस या मूत्रकृच्छ या सूजाक गन्होरिया आदि रोग हो जाते हैं तो गर्भ स्थित बच्चे का मस्तिष्क विकृत या कमजोर हो सकता है। माता के अन्दर के उपदंश या मूत्रकृच्छ के (सिफलिस)या गन्होरिया के कीटाणु गर्भ स्थित बच्चे को कई अन्य प्रकार से भी हानि पहुँचाते हैं। इनके कारण बच्चा या तो अंधापन या बहिरापन आदि से युक्त होकर पैदा हो सकता है या गर्भ में ही मर भी जा सकता है। यदि गर्भाधान के तीन चार महीने के अन्दर गर्भवती को 'रुबेला' या 'जर्मन मीजल्स' नामक रोग हो जाते हैं तो गर्भ स्थित बच्चे का विकास-पथ काफी अवरुद्ध हो जाता है। इनके फलस्वरुप 'कार्डिएंक एनामोलीज', 'कांजेनिटल, कैटारैक्ट', 'बहरापन', 'दोषयुक्त दंत' तथा 'मस्तिष्क दौर्बल्य' आदि रोग सरलता से गर्भस्थित बच्चे में घर कर सकते हैं। यदि मां में 'थाईरायड डिफिसियेन्सी' है तो बच्चे में कार्टिलेजका निर्माण ठीक से नहीं हो पाता। यदि माँ को 'एनफ्लूएंजा,' कुकुर खांसी', 'यक्ष्मा' 'मधु प्रमेह' आदि रोग हैं तो इनके कारण भी कभी कभी थोड़ा बहुत बुरा असर बच्चे पर आ सकता है। यक्ष्मा अथवा मधु प्रमेह से पीड़ित गर्भवती के भोजन पर विशेष ध्यान रखना चाहिए। कभी कभी किन्हीं कारणों से नव गर्भवती को 'एक्सरे' या 'रेडियम ट्रीटमेंट द्वारा उपचार करना पड़ गया हो तो इसका भी असर बच्चे पर आ सकता है। इससे गर्भ स्थित बच्चे में 'मस्तिष्क विकृत' या दौर्बल्य आ सकता है। कभी कभी गर्भवती की साम्वेगिक स्थिति का भी प्रभाव बच्चे के विकास पर बुरा पड़ जाता है। अत्यधिक घवड़ाहट, कौतूहल या चिंता का असर गर्भवती के चेता संस्थान पर पड़ सकता है। ऐसा होने पर गर्भस्थित बच्चा, अत्यधिक कार्यरत हो सकता है और तीन महीने का गर्भस्थित बच्चा संतुलित स्थिति कायम रख सकने में असमर्थ हो सकता है। इस प्रकार उसे सुविकसित हो सकने में काफी कठिनाई झेलनी पड़

सकती हैं। माता की साम्बेगिक स्थिति का गर्भस्थित बच्चे पर जो भी प्रभाव होता है वह सीधे नहीं होता। सम्वेगों का प्रभाव मां की शारीरिक स्थिति पर पहले पड़ता है तब फिर इसके जरिए से इसका असर बच्चे पर होता है। यदि गर्भवती किसी प्रकार गहरा या जोर का शारीरिक धक्का खा जाय तो गर्भ गिरने या गर्भ स्थित बच्चे के मस्तिष्क में विकृत आ जाने की सम्भावना रहती है।

इस संदर्भ में एक बात यह ध्यान रखने की है कि जो भी रोग, बच्चा माता से गर्भवस्था में ग्रहण कर सकता है वह गर्भाधान के लगभग दो हफ्तों के बाद ही।

बच्चे पर अनुवांशिक प्रभाव

यों तो बच्चे की बुद्धि, मानसिक स्थिति तथा उम्र आदि का भी बहुत कुछ अंशो में निर्धारण बंशानुक्रम से हो सकता है, किन्तु यहां हम अनुवांशिक रूप से मिले मात्र शारीरिक गुणों और बीमारियों पर ही संक्षेप में प्रकाश डालेंगे। बच्चे के बालों का रंग तथा प्रकार आंखों का रंग तथा मुखाकृति आदि का काफी हद तक निर्धारण प्रायः वंशानुक्रमिक रूप से होता है। साधारण तौर पर इन पर पर्यावरण का कोई खास प्रभाव नहीं होता। किन्तु ये बातें ध्रुव सत्य नहीं हैं। प्रायः हमें इनके विपर्य भी देखने को मिलते हैं। अस्तु। बहुत अधिक तो नहीं किन्तु कई प्रकार के रोग वंशपरम्परा से चलते रहते हैं। 'अंगुलि विकृति, रंग अन्धापन, मानषिक दुर्बलता, हान्टिंगटन्ज कोरिया, सीजोफ्रेनियां तथा कुछ खास प्रकार के कैन्सर आदि ऐसे रोग हैं जो कि बच्चों को वंश परम्परा से मिल सकते हैं।

प्रायः हम कुछ छूत के रोगों यथा उपदंश, मूत्रकृच्छ (सिफलिस, गन्होरिया) और उनके फलस्वरूप होने वाली अन्य शारीरिक हीनता तथा यक्ष्मा आदि को भी भ्रम के कारण वंश-परम्परा से चलने वाले रोग ही समझ बैठते हैं। ये रोग वंश परम्परा से न चलकर या तो बच्चे को गर्भा-

वस्था में ही माता के जरिये मिल जाते हैं या पैदा होते ही इनके कीटाणु बच्चे के शरीर में छूत से पहुँच जाते हैं। यदि मां को या अन्य किसी व्यक्ति को जो कि नवजात शिशु के संसर्ग में आया हो इन रोगों के कीटाणु हों तो उनसे बच्चा भी ग्रहण कर लेता है। कुछ बाद में जब इन रोगों के आसार लोगों को बच्चे में दिखलाई देते हैं तो वे झट से उसका सम्बन्ध माता पिता से जोड़कर दो पीढ़ी या इसी प्रकार यदि रोग आगे तक चला तो तीन चार या और भी पीढ़ियों का हिसाब दिखाते हुए उसको अनुवांशिक सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं। किन्तु यह भ्रम है और इसका निराकरण इतनी तथ्य जानकारी होने पर हो जाना चाहिए। प्रायः यक्ष्मा इसलिए पीढ़ी दर पीढ़ी तक चला करता है कि यक्ष्मा से पीड़ित लोग प्रायः शरीर से कमजोर होते हैं—उनकी यह कमजोरी अनुवांशिक रूप में चल सकती है—और इस प्रकार उनसे उत्पन्न नव जात शिशु में कमजोर जेहन का होने के कारण यक्ष्मा के कीटाणु शीघ्र ही घर कर सकते है और इस राज रोग का शिकार बना सकते हैं। यदि व्यक्ति स्वस्थ पर्यावरण और स्वस्थ आहार का सेवन कर सके तो प्रायः ये रोग दब जाते हैं। कईबार कमजोर शरीर के कारण कई प्रकार के रोग प्रायः कई पीढ़ियों तक चला करते है और ऐसा लगने लगता है कि ये अनुवांशिक है। किन्तु बात ऐसी नहीं होती।

सामाजिक कार्यकर्ता के कार्य

(१) सामाजिक कार्यकर्ता को चाहिए कि वह गर्भवती स्त्री तथा उसके पति को सलाह दे कि वे गर्भ धारण गर्भ विकास तथा शिशु जन्म आदि से सम्बन्धित अच्छे साहित्यों का अवश्य ही अध्ययन तथा मनन एवं उनके द्वारा निर्दिष्ट नियमों सुझावों का पालन करें।

(२) कार्यकर्ता गर्भवती स्त्री को सलाह दे कि वह किसी अच्छे चिकित्सक से, चिकित्सक के मतानुसार, पूरे गर्भधारण काल में कई बार कुछ

दिनों के अन्तर पर मिलती रहे तथा उसके कथनानुसार आहार-बिहार तथा कसरत आदि करने की चेष्टा करें।

(३) यदि किसी गर्भवती को, पेशाब में जलन हो, पेशाब की मात्रा की अत्यल्पता, अत्यधिक बुखार पेंडू में लगातार दर्द, झटके के साथ योनिद्वारा से पानी का बाहर आना, मुँह, हाथ पैर आदि में सूजन, योनिद्वारा से रक्तागमन, लगातार मिचली या उल्टी (मुख-वमन) तथा आँखों के आगे अंधेरापन या धब्बा-दर्शन आदि कुलक्षण दिखलायी पड़े तो उसे शीघ्र ही चिकित्सक की शरण लेनी चाहिए। गर्भवती के योनि द्वारा से कभी भी खून की मात्रा की एक दो बूँदें भी बाहर नहीं आनी चाहिये यदि उपरोक्त लक्षण कोई समाज सेवी किसी गर्भवती में पाए तो उसे तुरन्त अच्छे चिकित्सक से मिलाए।

(४) समाज सेवियों को यह बतलाना चाहिए कि जब उन्हें वास्तव में ऐसा लगे कि अब बच्चा पैदा होने वाला है तो वे समीप के किसी अच्छे तत्सम्बन्धी अस्पताल में दाखिल हो जाएँ। यदि वे घर पर ही बच्चा जनना चाहती हों तो उस समय के लिए आवश्यक सभी सामान यथास्वस्थ-तथा स्वच्छ कमरा, स्वच्छ बिछावन, रूई, कपड़ा कुछ तत्सम्बन्धी दवा परिवारकी या पड़ोस की कुछ अनुभवी स्त्रियों तथा एक अच्छी महिला चिकित्सक और परिचारिका की व्यवस्था अवश्य कर लें।

अध्याय २

मुख-कामावस्था

मुख-कामावस्था

जन्म के बाद जीवन के प्रथम १८ महीने (लगभग) को इस काल नाम से सम्बोधित किया जाता है। इस अवधि के बच्चे किस प्रकार विकसित होते हैं. क्या उनकी मूलभूत आवश्यकताएँ हैं, और कैसे उनके विकास में योगदान दिया जा सकता है, इसी पर नीचे विचार किया जा रहा है।

शारीरिक विकास

जिस समय बच्चा पैदा होता है, सामान्यता उसका वजन ७½ पौंड तथा ऊँचाई १९½″ होनी चाहिए । उस समय शरीर भार ऊँचाई की तुलना में कम रहता है। बालक बालिकाओं की तुलना में कुछ लम्बा और भारी होता है। बच्चों की शारीरिक विशेषता बहुत कुछ मा के स्वास्थ्य एवं बच्चों के गर्भावस्था के आहार बिहार पर निर्भर करता है। अध्ययन के आधार पर यह पाया गया है कि उन माताओं के बच्चे वजन में २-३ पौंड कम होते हैं जिनका गर्भावस्था में आहार बिहार बड़ा ही चिंतनीय रहा हो। इसके अतिरिक्त वे बच्चे भी इस मापदंड से पृथक् हो सकते हैं, जो गर्भावस्था की पूर्ण आयु को बिताए बिना ही इस लोक पर आजाते हैं। जन्म के प्रथम सप्ताह में प्रायः बच्चा जन्मकाल के वजन से कम होने लगता है। पर दसवें दिन से पुनः प्रारम्भिक वजन धारण करने लगता है। यह सामान्य बात है इस पर हमें किसी प्रकार की घबड़ाहट नहीं होनी चाहिए।

शरीर का चर्म मुलायम तथा गहरे गुलाबी रंग का होता है। इस समय बच्चे का शीर्ष पूरे शरीर का १/४ रहता है जबकि प्रौढ़ावस्था में १/८ रहता है। जन्मकाल के समय नाड़ीगति १२०-१५०बार १ मि० में रहती है पर कुछ दिनों बाद औसत नाड़ीगति ११० बार हो जाती है। इसकाल के स्वस्थ बच्चे के शरीर का तापक्रम प्रौढ़ व्यक्ति के शरीर के तापक्रम से अधिक होता है तथा अस्थायी होता है। इस काल का बच्चा अपने समय का अधिकांश भाग (लगभग १७-१८ घंटे) निद्रा में ही व्यतीत करता है। यदि ऐसा न हो तो हमें समझना चाहिए कि कुछ गड़बड़ी है और इसके लिए चिकित्सक से परामर्श लेनी चाहिए।

प्राथमिक आवश्यकताएँ:—

इस काल के सभी बच्चों की निम्नलिखित प्राथमिक आवश्यकताएँ हैं जिनकी पूर्ति पर बच्चे का विकाश समुचित दिशा में आगे बढ़ता है अन्यथा कुन्ठित या पतनोन्मुख हो जाता है।

भोजन:—बच्चा पैदा होने के कुछ ही घंटे बाद भूख और प्यास की तीव्र इच्छा प्रकट करता है और इस इच्छा की तृप्ति के लिए रोता चिल्लाता है। ऐसी स्थिति में बच्चे को उसी समय स्तन पान कराना चाहिए तथा हमेशा उस पर ध्यान देना चाहिए। भोजन के लिए कोई एक नियम बना देना चाहिए ताकि बच्चे उसके अभ्यस्त हो जाँय। पर यह नियम कोई सख्त नहीं होना चाहिए। जब कभी भी भोजन की इच्छा प्रकट करे उसे भोजन करा देना चाहिए इसकाल में भोजन का बालक के लिए शारीरिक तौर पर ही नहीं मनोवैज्ञानिक एवं संवेगात्मक स्तर पर भी अत्यधिक महत्व है। मनोवांछित भोजन मिलने पर बालक के अन्दर स्वरक्षा या विश्वास पैदा होता है। जो कि इस काल का प्रमुख कार्य है। यदि बच्चे को भोजन नहीं मिलता। तो बच्चा अपने को बड़ा अरक्षित पाता है और उसमें वातावरण के प्रति अविश्वास पैदा हो जाता है जो कि आगे के विकाश में बाधक है। इतना ही नहीं बल्कि अध्ययन के आधार पर

यह देखा गया है कि वे नवजात शिशु जो जीवन के प्रथम २-३ माह में भोजन यथेष्ट मात्रा में नहीं पाए हुए रहते हैं, उनके अन्दर निम्नलिखित विकार पैदा हो जाते हैं।

(१) तात्कालिक प्रभाव के अंतर्गत तो यह देखने को मिलता है कि बच्चा कमजोर या कृशकाय हो जाता है और काल कवलित भी हो जाता है।

पर इसके अलावा जो अन्य प्रभाव बालक पर पड़ते हैं वह और भी गंभीर है। जिसके लक्षण को देखने पर यह विश्वास नहीं होता। कि इस लक्षण के जड़ में बहुत पहले का कारण निहित है। जैसेः—

(१) बाद के जीवन में बड़ा होने पर भोजन के प्रति बड़ी आशंका पैदा होती है। उसे पर्याप्त भोजन मिलने पर भी वह भोजन के प्रति चिंतित रहता है। हमेशा सोचा करता है कि कहीं कम न पड़ जाय।

(२) दूसरी बात स्वयं के प्रति भी बड़ी आशंका बनी रहती है। वह सोचा करता है कि मेरे तरफ अन्य ध्यान देते हैं या नहीं। ध्यान देने पर भी उसे लगता है जैसे लोग उसे त्याज्य मान बैठे हों।

इन दोनों आंशकाओं के प्रतिक्रिया स्वरूप वह निम्नलिखित व्यवहार भी प्रस्तुत करता हैः—

(१) प्रतिदिन भोजन की मात्रा अत्याधिक लेता है, वह खूब खाकर ही अपनी पहली आशंका की क्षति पूर्ति करता रहता है।

(२) दूसरी आशंका की प्रतिक्रिया में विभिन्न व्यवहार करता है। जैसेः—

(अ) बच्चे के सन्निकट या चारों तरफ जो रहता है उससे वह अपने को लिपटाए रहता है अथवा उसमें चिपकने की प्रवृत्ति रहती है।

(ब) हमेशा दूसरे की दृष्टि अपनी तरफ चाहता है, उसे विश्वास नहीं होता। अतएव बार-बार दूसरे से पुनराश्वासन चाहता रहता है।

(स) वह सदैव डरा करता है कि न तो वह यथेष्ट प्यार पा रहा है न तो मान्यता ही।

(द) वह उस व्यक्ति के प्रति बड़ा ईर्ष्यालु रहता है जो उसके सम्मुख दूसरे बालक को प्यार या मान्यता देता है।

इस प्रकार से हम देखते हैं कि बालक की प्राथमिक आवश्यकताओं में भोजन बहुत ही महत्व पूर्ण है। इस भोजन में दो प्रकार की इच्छा रहती है। (अ) चूसने की (ब) काटने की।

चूसने की आवश्यकताः—बच्चे में जीवन के प्रथम ५-६ माह में चूसने की इच्छा अत्यधिक तीव्र होती है। इस इच्छा की पूर्ति में माँ का स्तन काम में आता है। पर यदि माँ के स्तन से जरा सा दाव पड़ने से ही अात्यधिक दूध आ जाता है तो बच्चे की चूसने की इच्छा अतृप्ति ही रह जाती हैं। जिससे बच्चे बड़े प्रवंचित हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में बच्चे के अन्दर निम्नलिखित प्रतिक्रियाएँ पैदा हो सकती है।

(१) वह अखाद्य पदार्थों को चूसने लगेगा जैसे अंगुली, बिस्तर का कपड़ा खिलौने आदि। पर यह बच्चे के लिये कोई हानिकारक नहीं है। अतएव माताओं को इसे रोकना नहीं चाहिये। यदि वे रोकती हैं तो निम्नलिखित परिणाम देखने को मिलते हैं।

(अ) वह बेचैनी का अनुभव करता है जिससे उसमें विश्वास का भाव नहीं पैदा होता।

(ब) वह भोजन को ग्रहण करने से इनकार करता है।

काटने की आवश्यकताः—जब बच्चे में दांत आ जाते हैं तो वह ठोस पदार्थ खाना चाहने लगता है जिससे काटने की प्रवृति संतुष्ट होती है। यदि उसे उचित अवसर नहीं मिलता है तो वह अन्य अखाद्य पदार्थों को काटने लगता है। जैसेः—माँ को, अन्य बच्चों आदि को।

२— अब दूसरी आवश्यकता निद्रा की है। जैसा ऊपर बताया जा चुका है कि बालक अपने समय का अधिकांश भाग निद्रा में ही व्यतीत करता है। अतएव निर्विघ्नरूप से उसे सोने देना चाहिए। सोते समय जगाना नहीं चाहिए पर बड़े दुख के साथ कहना पड़ता है कि भारत की ग्राम्याएँ बच्चों को प्रायः सोते समय ही जगाकर दूध पिलाती हैं तथा सायंकाल या संध्या को रात्री ७-८ बजे के समय सोने नहीं देती वे कहती हैं कि बच्चा अभी सो लेगा तो रात भर परेशान करेगा। अतएव अपनी परेशानी से बचने के लिए बच्चे के विकाश में कितना बड़ा बाधक बनती है जिनका कि ज्ञान उन्हें नहीं है। लेखक तो कुछ उन माताओं से भी परिचित है जो बच्चे को रात में सोने के लिए ताकि उसे कष्ट न हो, अफीम भी पिला दिया करती थीं।

अतएव इस दोष की तरफ माताओं का ध्यान आकृष्ट करना हमारा पुनीत कर्तव्य है।

३—**देखरेखः**—बच्चे की तीसरी प्राथमिक आवश्यकता अन्य द्वारा देख रेख है क्यों कि बच्चा इस समय असहाय होता है तो अन्य के न रहने पर बड़ा निराश होता है और इस प्रकार उसके अन्दर अविश्वास पैदा हो जाता है। इस आवश्यकता का महत्व समझने पर हमें ऐसा लगता है कि इसीलिए हमारे आचार्यों एवं गुरुओं ने हमें ऐसा उपदेश दिया था कि इस उम्र के बच्चे को अकेले नहीं छोड़ना चाहिए। यहां तक कि सोते समय कोई वृद्धा या बड़ी लड़की चारपाई के पास बैठी भी रहती थीं। यह परिपाटी आज भी भारत के गाँवों में भली-भाँति देखने को मिलती है। हां यह बात जरूर है कि इसका कारण वे शायद बच्चे की देखरेख की अनिवार्यता न समझ कर अब भूत प्रेत बाधाओं से वंचित रहने की प्रेरणा से ही करती हैं। पर शुरू में बच्चे की देखरेख की अनिवार्यता ही इसका कारण रहा होगा ऐसा लगता है।

सामाजिक कार्यकर्ता का कार्यः—सामाजिक कार्यकर्ता का यह उद्देश्य होना चाहिये कि उन बुराईयों तथा बच्चों के समुचित विकास के लिए जो आवश्यकतायें हैं तथा जो सामान्य बातें हैं जिनके लिये प्रायः माताएं अज्ञान के कारण परेशान रहती हैं उनको प्रकाश में लाएँ ताकि वे समुचित दिशा में बच्चे की मदद कर सकें। जैसेः—

(१) यदि बच्चा अपने निश्चित काल के पूर्व इस लोक पर आ गया हो तो माताओं को प्रेरित करना चाहिये कि वे २-३ वर्ष तक चिकित्सक के परामर्श के अनुसार भोजन की व्यवस्था करें।

(२) माताओं को यह बताना चाहिए कि बच्चा इस काल में अंगूठा चूसता है या अपनी इन्द्रिय से खेलता है तो यह सामान्य बात है इसके लिए परेशान नहीं होना चाहिए और न तो बच्चों को डाँटना पीटना ही क्योंकि ऐसा करने से उसकी इच्छा की पूर्ति नहीं होती है। बच्चा निराश हो जाता है, डर जाता है।

भारत में हम देखते हैं कि बच्चा यदि इस उम्र में अपनी जनेन्द्रिय से खेलता है तो माताएं चिंतित हो जाती हैं और बच्चे को मारने पीटने लगती हैं कहती हैं कि ऐसा करने से बीमार हो जाएगा। इस गलत फहमी से उन्हें दूर करना चाहिए।

(३) बच्चा यदि चारपाई या बिस्तर पर पाखाना पेशाब कर दे तो माँ को सख्ती का व्यवहार नहीं बरतना चाहिए क्योंकि इस काल में मल विसर्जन क्रिया अनिश्चित तथा अनैच्छिक रूप से होती है। बच्चा अधमस्व से ही प्रभावित रहता है उत्तम स्व का निर्माण नहीं हुआ रहता है। दंड देने से उसके अन्दर अविश्वास पैदा हो जाता है जो उसके विकास में बाधक है।

(४) नींद और भोजन का बच्चे के जीवन के लिए कितना महत्व है इस ओर माताओं को भली भांति परिचित कराना चाहिए।

(५) बच्चों को ऐसे जगह रक्खे जहाँ का तापक्रम सामान्य हो। न तो

अधिक ठंडा हो और न अधिक गर्म, अन्यथा बालक में वातावरण के प्रति अविश्वास पैदा हो जाएगा और यह अविश्वास वृद्धावस्था तक बना रहता है। वह किसी पर विश्वास नहीं करता। संदेह की दृष्टि सब के प्रति रखता है।

(६) जिस समय बच्चा ५-६ महीने का हो जाता है उस समय वह चूसने का स्तर पारकर काटने की अवस्था पर आ जाता है। इस समय उसे दाँत निकलने लगते हैं। यह अवस्था एक तो बच्चे के लिए वैसे ही कष्टदायक है दूसरे दाँत निकलने के कारण उसे अजीब टीस होती है। इस टीस के कारण वह दाँत किरकिराता है। माताएं वस्तुस्थिति के अज्ञान में उसको थप्पड़ जड़ देती हैं, कहती हैं कि दाँत का किरकिराना एक अशुभ लक्षण है। ऐसी स्थिति, में बच्चे में अविश्वास पैदा हो जाता है जो कि आगे के जीवन में बड़ा ही बाधक होता है।

अतएव सामाजिक कार्यकर्ताओं को चाहिए कि माताओं का ध्यान इस बात की ओर दिलावें और दूसरी तरफ बच्चों को कोई ठोस चीज खाने के लिए चिकित्सक के परामर्श के अनुसार दें ताकि उसकी काटने की प्रवृत्ति की संतुष्टि हो सके। इस काटने की संतुष्टि से उसकी माँ के प्रति विरोध भावनाएं भी निकलती रहती है जिससे वह आराम का अनुभव करता है।

(७) अब शहरी माताएँ प्रायः ऐसा करती हुई देखी जाती हैं कि सिनेमा आदि देखने के लिए बच्चों को घर में सुलाकर या किसी को सुपुर्द कर तीन-चार घंटे गायब रहती है। यह वियोग बच्चे के लिए मानसिक आघात हो जाता है। अतएव इस तरफ ध्यान आकृष्ट कराना चाहिए।

(८) घर का वातावरण अच्छा रहना चाहिए। परिवार के अन्दर किसी प्रकार का कलह नहीं रहना चाहिए। क्योंकि नवजात शिशु पर

इसका बुरा प्रभाव पड़ता है। यहाँ तक कि वह इस अप्रसन्नता के कारण दूध आदि नहीं पीना चाहता। वमन कर दिया करता है।

इस काल की विषम परिस्थितियाँ :—

(१) बच्चे की बिमारी—इस काल में यदि बच्चा काफी बीमार हो जाता है तो उसके लिए यह अस्वाभावी चाप है। क्योंकि अभी वह असहाय रहता है

(२) यदि माँ संवेगात्मक रूप से ठीक नहीं रहती तो वह बच्चे को उचित लाड़-प्यार नही दे पाती जिसके फलस्वरूप बच्चा अपने को अरक्षित पाता है। इस सुरक्षाहीन अवस्था का प्रभाव बच्चे के शारीरिक संस्थानों पर पड़ना है। ऐसे बच्चे वमन, दस्त तथा दुग्ध पान की अनिच्छा के शिकार हो जाते हैं। कभी कभी इसी कारणवश वे अपना अंगूठा आदि भी चूसने लगते हैं। इस चूसन क्रिया के द्वारा वे स्वयं को स्व-संतुष्टि देते हैं।

(३) माँ का वियोग:—यदि इस काल में माँ मर जाती है अथवा उसे दूसरे पर छोड़ कर कहीं कुछ दिन के लिए चली जाती है तो बच्चा बड़ा निराश हो जाता है और सोचता है कि "मैं अकेला हूं त्याज्य हूं।" इसकी प्रति किया में निम्नलिखित व्यवहार करता है।

(१) चिल्लाना, बेचैनी प्रकट करना, वमन करना, दस्त करना।

(२) भोजन न करना, पिता आदि के प्रति अच्छा व्यवहार न प्रदर्शित करना आदि।

———

अध्याय ३

गुदूकामावस्था

यह १८ महीने से लेकर लगभग ३ वर्ष तक का समय है। इस समय तक बच्चा सहारे अथवा स्वतंत्र रूप से टहलने लगता है और स्वतंत्रता प्रेमी हो जाता है। वह अब गोद में न बैठकर जमीन पर स्वतंत्र रूप से परिभ्रमण करना चाहता है, इसीलिये इस काल का मुख्य उद्देश्य स्वतंत्र होना होता है, यदि वह इस उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर पाता तो उसमें लज्जा या संदेह के मनोभाव पैदा हो जाते हैं। बच्चे में यदि मुखकामावस्था में 'विश्वास' का उचित आगमन हो चुका होता है और इस काल की भी लगभग सभी मूल-भूत आवश्यकताओं की तृप्त की जाती है तो उसके भावी जीवन को उचित दिशा में अग्रसर होने में भारी सहूलियत होती है। इसके विपरीत यदि बच्चे में, मुखकामावस्था में 'अविश्वास' के भाव का सृजन हो चुका है अथवा इस काल में उसकी जरूरी आवश्यकताओं की उचित पूर्ति नहीं होती तो उसे अपने भावी जीवन के हर क्षेत्र में, हर कार्य में तथा व्यक्ति और समाज के प्रति संदेह बना रहता है।

गुदूकामावस्था

इस समय तक बच्चे में माँस पेशियों पर नियंत्रण करने की क्षमता आ जाती है और वह मुखकामावस्था की अपेक्षा सभी स्तरों पर (शारीरिक बौद्धिक, साम्वेगिक एवं मनोवैज्ञानिक) अधिक विकसित हो जाता है। बच्चा इस समय गुदा द्वार द्वारा कामुख-सुख-भोग करता है। इसीलिये इस काल का नाम गुदूकामावस्था रखा गया है। इस काल के पूर्व-चौथांश में

बच्चे को यत्र-तत्र टट्टी कर देने में बड़ा ही आनंद मिलता है। किन्तु इसके बाद के काल में टट्टी रोक रखने तथा खूब तेजी से पाखाना लगने पर वेग के साथ टट्टी करने में उसे गुदा में एक विशेष सम्वेदन होने के कारण कामुक सुख प्राप्त होता है। इसीलिये बहुधा बच्चे, कहने पर भी शीघ्र टट्टी नहीं करना चाहते या काफी देर तक बैठे रहने के बाद तेजी के साथ मल विसर्जन करते हैं। इस प्रकार मल विसर्जन की क्रिया का अर्थ मात्र कामुक-सुख उपलब्धि तक ही परिसीमित नहीं है। बच्चे इसके द्वारा स्वसत्ता तथा अपने मनोनुकूल कार्य सम्पादन की क्षमता के भाव का अर्थात् स्वतंत्रता और आत्मविश्वास का विकास करते हैं। इन भावनाओं के विकास या ह्रास के रूपानुसार ही उसका भावी जीवन गतिमान होता है। गहराई से किये गये अध्ययनों से पता चला है कि जो व्यक्ति टालमटोली, जिद्दीपन, सग्रेहच्छा युक्त, अधिकार लोलुपता अथवा कृपणता आदि दुर्गुणों से युक्त होते हैं, वे प्रायः गुद्कामावस्था में टट्टी रोक रखने की आदत से ग्रसित रहे हुए होते हैं। इसके अतिरिक्त रासायनिक या प्राविधिक कार्यों में अधिक दिलचस्पी लेनेवालों की गुदकामावस्था में टट्टी को गीजने की आदत रह चुकी रहती है। मनोवैज्ञानिकों ने प्रयोगों के आधार पर यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि रूढ़िवादी व्यक्ति प्रायः गुदा सुख भोगी हुआ करते हैं।

इन बातों के बावजूद बच्चा इस समय तक भी दूसरे पर ही आश्रित रहता है। दूसरे के लाड़-प्यार पर विकसित होता है। उसकी सभी मूलभूत आवश्यकताएँ जैसे सुरक्षा, प्यार, भोजन तथा शौच संयम आदि मुखकामावस्था जैसी ही रहती हैं। जिस पर आगे कुछ विस्तार के साथ विचार करेंगे। हाँ; इतना जरूर है कि मुखकामावस्था के पराश्रय से इस काल का पराश्रय कुछ भिन्न है। बच्चा इस काल में भी मुखकामावस्था की ही तरह माँ-बाप पर आश्रित रहता है तथा उसकी सभी मूलभूत आवश्यकताएँ इन्हीं संरक्षकों के ही द्वारा तृप्त हो सकती हैं। पर गुद्कामावस्था

का बच्चा अब इस योग्य हो चुका रहता है कि वह कुछ सीखने की पद्धति (अनुकरण) द्वारा अनेक व्यवहारों को सीख लेता है। वह माँ-बाप के निर्देशन द्वारा पाखाना पेशाब में संयम लाने लगता है। अब मुखकामावस्था की तरह नहीं कि बिस्तर पर पाखाना या गोद में बैठे-बैठे पेशाब कर दे। अब तो वह सांकेतिक शब्दों के द्वारा अपने मनोभावों को भी व्यक्त करने लग जाता है। इस समय तक बच्चा पानी को मानी अथवा मम् कहकर अपनी पिपासा की तृप्ति करवा लेता है, पेशाब-पाखाने के लिये चारपाई एवं माँ-बाप के गोद से उतरने लगता है तथा पाखाने के लिये 'गोबा' या 'छिया' आदि शब्दों का प्रयोग करने लग जाता है। हाँ; जब माँ उसके संकेतों को नहीं समझ पाती और उसे चारपाई या गोद से नहीं उतारती तो वह गोद या चारपाई पर ही पाखाना-पेशाब कर देता है। इसके अतिरिक्त दूसरी स्थिति वह होती है जब बच्चा, माँ-बाप के प्रति आक्रोश होता है और प्रतिक्रिया स्वरूप आक्रोश प्रदर्शनार्थ, चारपाई-बिस्तर या गोद में ही पाखाना-पेशाब कर देता है। यद्यपि अधिकाश लोगों को यह विश्वास नहीं होता कि इतने छोटे बच्चे में माँ-बाप के प्रति क्या आक्रोश होगा या माँ-बाप के व्यवहारों को वह कितना और क्या समझेगा। पर हमें इस मिथ्या धारणा से दूर होना चाहिये। बच्चा तो जब से पैदा होता है तभी से उसके संसर्ग में आने वालों के हाव-भाव एवं व्यवहारों की छाप उसके मस्तिष्क पर अंकित होती जाती है और बहुत कुछ तदनुरूप ही वह अनेक व्यवहारों को अपनाता है। इस सत्य को हम मुखकामावस्था में भी देख चुके हैं।

इस उम्र में बच्चे में समझने की शक्ति काफी बढ़ जाती है। माँ-बाप जो कहते हैं उसे वह अपने शब्दों में भले ही न कह सके पर समझ लेता है। कोई भी वस्तु मांगिये बच्चा समझकर उसे लाने की चेष्टा करता है। यद्यपि पिता या माता की अनेक इच्छायें यथा—"वहाँ मत जाओ," "इसे न छुओ," "उसे न तोड़ो" आदि उसे प्रिय नहीं होतीं—पर फिर

भी असहाय होने के नाते, माता-पिता से प्रिय सम्बन्ध बनाये रखना अनिवार्य समझने के कारण वह इस सम्बन्ध को, उनकी इच्छाओं के अनुकूल आचरण करके कायम रखने की चेष्टा करता है। अर्थात् इस काल में बच्चे के अन्दर घृणा और प्रेम के दोहरे भाव या द्वंद्व-भाव मौजूद रहते हैं।

शारीरिक विशेषतायें—शरीर के कद एवं भार वृद्धि में मुख कामावस्था की अपेक्षा इस काल में ह्रास की स्थिति देखने को मिलती है। जीवन के प्रथम वर्ष में शरीर-भार की वृद्धि दर २०० प्रतिशत रहती है जब कि दूसरे वर्ष में २५ से ३० प्रतिशत हो जाती है। कद की वृद्धि पर ५० प्रतिशत की जगह २० प्रतिशत हो जाती है। मुखकामावस्था में, जैसा कि हम देख चुके हैं, कि शरीर भार कद के अनुपात में अधिक रहता है—पर इस काल से ठीक इसका उल्टा (अर्थात् कद शरीर भार के अनुपात में अधिक) देखने को मिलता है। मस्तिष्क एवं आमाशय अभी विकास की स्थिति में रहते हैं। हाथ की माँस पेशियाँ सुदृढ़ होने लगती है। इसी के फलस्वरूप बच्चे छोटे-मोटे सामानों को उठाने तथा अपने ही हाथों से भोजन आदि ग्रहण कर सकने में समर्थ होने लगते हैं। इस काल के अन्त तक बच्चा इस योग्य हो जाता है कि वह दौड़ या हल्के शारीरिक व्यायाम आदि कर सके। शारीरिक व्यायाम से यहाँ मात्र यह तात्पर्य है कि वह ऐसे खेल आदि खेले जिसमें कि उसको कुछ शारीरिक शक्ति लगानी पड़े। उदाहरणार्थ हम, बच्चों द्वारा लकड़ी आदि की लाठी को लेकर दौड़ने, लाठी को दोनों पैरों के बीच में रखकर जमीन पर घसीटते हुए और यह कहते हुये "घोड़ा, घोड़ा" है, दौड़ लगाने, अच्छी आर्थिक स्तर वाले परिवार के बच्चे द्वारा छोटी साइकिल आदि चलाने या गेंद फेंकने और ले आने आदि की क्रिया को शारीरिक व्यायाम के अन्तर्गत समझ सकते हैं।

सांवेगिक विकास—बच्चा इस समय तक माँ के अतिरिक्त पिता को भी पहचानने लगता है और दोनों के प्यार का इच्छुक हो जाता है। पर साम्वेगिक रूप से माँ के बहुत सन्निकट रहता है। माँ यदि बच्चे को छोड़कर कहीं चली जाती है तो बच्चा बड़ा दुःखी होता है। वह समझने लगता है कि माँ उसे प्यार नहीं कर रही है या उपेक्षा की दृष्टि से देख रही है। फलस्वरूप वह बड़ी बेचैनी का अनुभव करने लगता है। वह भोजन नहीं करना चाहता, वमन करने लगता है तथा बड़ा ही आक्रोश हो जाता है।

इस काल में कुछ मुख्य संवेगों की स्थिति निम्नांकित है :—

क्रोध—बच्चे के अन्दर इस समय तक क्रोध, डर, जिज्ञासा, प्रसन्नता तथा प्यार आदि के भावों का जन्म हो जाता है। बच्चा लोगों का ध्यान आकृष्ट करने के लिये क्रोध करता है। यह उसके लिये एक सरल मार्ग है। बच्चा यदि किसी इच्छा की पूर्ति करना चाहता है और उसमें किसी प्रकार की बाधा आ पड़ती है तो वह बड़ा ही क्रुद्ध हो जाता है। उदाहरणार्थ—कपड़ा पहने हुये होने पर भी यदि बच्चा अपने माँ को नया एवं रंगीन ब्लाउज, साड़ी अन्य वस्त्र धारण करते हुये देखने पर उसे भी पहन लेना चाहता है, किंतु यदि माँ या पिता उसे ऐसा करने से रोकते हैं तो वह क्रुद्ध हो उठता है और जमीन पर लेटने लगता है, हाथ-पैर फेकने लगता है, फुसलाने के लिये दी गई वस्तु को फेंक देता है या घर के किसी कोने में, अकेले शुन्य स्थान में जाकर छिप या बैठ जाता है। इस प्रकार की स्थिति प्रायः हम घरों में बच्चों के साथ देखा करते हैं। कभी-कभी तो उनकी माँगे बड़ी विचित्र होती हैं जिनका कि पूर्ति खतरे से खाली नहीं है। उदाहरणार्थ—बिल्ली को पकड़े रखना, कुएँ पर जाना, तथा पशुओं के साथ खेलना, आदि। इन माँगों की अपूर्ति में भी वही स्थिति देखने को मिलती है जो ऊपर के उदाहरण में देखी जा चुकी है।

उपरोक्त स्थितियों में अभिभावकों को चाहिये कि वे बच्चों को मारें या डाटे नहीं अपितु नये आकर्षक एवं रंगीन खिलौने आदि देकर उनके क्रोध को शांति की दिशा में परिवर्तित कर दें।

डर—बच्चे के अन्दर परिस्थिति से सामंजस्य स्थापित करने की एक अति सीमित क्षमता होती है। यदि परिस्थिति उस उस सामंजस्य क्षमता के बाहर हो जाती है तो वह समायोजन स्थापन में असमर्थ होने के कारण डरने लगता है। उदाहरणार्थ यदि बच्चा अकस्मात ऐसे व्यक्ति को, जिसको कि उसने पहले कभी नहीं देखा है या किसी पहचानी व्यक्ति को ही विचित्र वेष-भूषा में देखे तो वह भागने की चेष्टा करता है अथवा चिल्लाने लगता है। यह स्थिति प्रायः उस समय भी देखने को मिलती है जबकि लम्बे चोगावाला साधु या सन्यासी घर पर आता है और बच्चे चिल्लाते हुये गृहजनों की तरफ भागते हैं। आम-तौर पर विशाल काय जानवर अधेरा कमरा, ऊँचा स्थान, विचित्र वेष भूषा वाला व्यक्ति विचित्र वस्त्र तथा तीव्र ध्वनि इस उम्र के बच्चों के लिये डर या भयजनक होते हैं।

जिज्ञासा—इस अवस्था से बच्चे में जिज्ञासा देखने को मिलने लगती है। खासकर बच्चा दो और तीन वर्ष के बीच की अवस्था में नयी वस्तु को देखने पर उसकी ओर दौड़ता है, उसको हाथों से स्पर्श करता है, खींचता तानता तथा इधर-उधर उलट पलट कर देखता है। जलती हुई लालटेन को स्पर्श करना तथा आग की तरफ दौड़ना उसकी जिज्ञासा के ही द्योतक हैं।

प्रसन्नता—मुखकामावस्था में बच्चा अपनी प्रसन्नता को मुस्कराहट के माध्यम से प्रकट करता है। पर इस उम्र में आते-आते वह शब्दों के द्वारा भी अपनी प्रसन्नता व्यक्त करने लग जाता है। उदाहरणार्थ वे वस्तुएँ या कार्य जो प्रसन्नता प्रदान करने वाले होते हैं बच्चे के लिये

जिद्द का मसाला बन जाते हैं। यदि लड्डू खाने या गेंद आदि को ऊपर उछालने में बच्चे को आनंद प्राप्ति होती है तो वह 'लड्डू' या 'गेंद' को प्राप्त करने के लिये "लू लू" "येन येन" शब्दोच्चारण के माध्यम से जिद्द करने लगता है और अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति पर मुस्कराते हुये हा हा या विशेष प्रकार का निःश्वास लेते हैं।

प्यारः—उस व्यक्ति के प्रति इनमें विशेष प्यार तो रहता ही है जो कि इनको खेल में, उत्साह वर्द्धन में, तथा शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति में योगदान देते हैं; पर खासकर इस समय इनका प्यार रंग बिरंगे खिलौनों के साथ रहता है। बहुधा बच्चे जल के साथ भी खिलवाड़ करके बहुत प्रसन्न होते हैं।

सामाजिक विकासः—बच्चे का पहला सामाजीकरण उसके घर में होता है। इस समय स्वयम् को, अन्य वस्तुओं या व्यक्तियों से पृथकता का ज्ञान-मान हो जाता है। उससे यदि कहा जाय कि अपना तथा चाचा का जूता ले आओ तो वह अलग-अलग समझ जाता है। इतना ही नहीं बल्कि इस अवस्था के बच्चों के सामाजिक विकास क्रम में एक और कुछ विकसित कड़ी देखने को मिलती है। जब बच्चा लगभग अपने उम्र के ही अन्य बच्चों के साथ खेल में व्यस्त रहता है तो उसे इस बात में कोई आपत्ति नहीं होती कि उसकी ही सामग्रियों का उपयोग अन्य बच्चे भी कर रहे हैं। कभी-कभी तो वह सहर्ष ही उन वस्तुओं को अपने साथियों को देता है। कटु-मानस-स्थिति की बात इतर है।

मानसिक विकासः—इस काल के अंत तक उत्तम स्व का निर्माण शुरू हो जाता है; यह अधम स्व पर नियंत्रण करना शुरू कर देता है। अब बच्चे को बिस्तर आदि पर पाखाना-पेशाब नहीं करना चाहिये; यदि वह ऐसा करता है तो इसका अर्थ यह है कि वह कुछ अप्रिय स्थित में है—सामान्य स्थिति में नहीं। कथित अप्रिय स्थिति की पहचान उसके निम्न-लिखित व्यवहारों से की जा सकती है :—

(१) वह 'अहम् अस्तित्व-रक्षा' के तरीकों को अपनाना चाहता है। इनमें आमतौर पर वह प्रतिगमन या 'प्रतीपभावना' की शरण लेता है।

(२) उसमें आशंका के लक्षण दिखलाई पड़ने लगते हैं। वह बेचैनी, वमन तथा दस्त आदि के विकारों से ग्रसित हो जाता है।

(३) उसमें दूसरे के प्रति असम्मान या निरादर के भाव उत्पन्न होने लगते हैं।

(४) वह बड़ा क्रूर हो जाता है।

(५) वह उदासीन भी हो सकता है।

इस काल की मूलभूत आवश्यकताएँ (१) निरंतर भौतिक देख-भाल का होना तथा उन स्थितियों का प्राप्त होना जिनमें कि बच्चा स्वस्थ्य तथा प्रसन्न रह सके।

प्राय: हम देखते हैं कि बच्चे जिस समय अपने समान उम्र वालों के साथ खेलने लगते हैं—अभिभावक उनके प्रति कुछ गैरजिम्मेदार से हो जाते हैं। वे सोचते हैं कि अब तो बच्चा खेल रहा है, किन्तु उस समय भी वहाँ बड़ों की आवश्यकता होती है। उनकी उपस्थिति मनोवैज्ञानिक स्तर पर तो महत्वपूर्ण है ही पर साथ ही साथ शारीरिक स्तर पर भी कम महत्व की नहीं। बच्चे इस उम्र में दौड़ते या खेलते समय प्रायः गिर जाया करते हैं तथा उनको कभी-कभी तो गहरी चोट भी लग जाया करती है। ऐसी स्थिति में बड़ों की उपस्थिति कितनी महत्वपूर्ण है, इसे समझा जा सकता है।

(२) नये कौशल आदि सीखने के लिये उसे अवसर मिलना चाहिये। सीखने के समय सहानुभूति-पूर्ण दृष्टि प्राप्त होनी चाहिये। ऐसा नहीं कि उसे नये कौशल को सीखने से रोका जाय। उदाहरणार्थ कभी-कभी जब सम्पन्न परिवार के बच्चे भोजन आदि के समय चम्मच, काँटे का

प्रयोग करना चाहते हैं तो बड़े लोग यह समझकर कि वह प्लेट आदि फोड़ देगा या उसे चोट लग जायेगी, बच्चे को ऐसा करने से रोक देते हैं। वे अपने हाथ से ही उसे खिलाने लगते हैं या कभी-कभी उधर दृष्टि ही नहीं देते अभिभावकों को ऐसे समय में चाहिये कि बच्चे का उत्साह बढ़ायें, प्रसंशा करें अथवा उसके सहयोगी बनकर उसे नव ज्ञानार्जन में मदद दें। यदि वे ऐसा नहीं करते तो बच्चे में स्वसमर्थता की भावना नहीं आ पाती।

(३) बच्चे को निरंतर लाड़-प्यार मिलना रहना चाहिये। यदि ऐसे नहीं होता तो उसमें संदेह का भाव पैदा हो सकता है। उसकी स्वविचार प्रकाथन की भावना दब जा सकती है। पर हाँ ध्यान यह अवश्य रहे कि यह लाड़-प्यार सही दिशा (संतुलित मात्रा) में ही हो। गलत कामों या अत्यधिक माया में उत्साहवर्धन नहीं करना चाहिये— नहीं तो बच्चा उचित-अनुचित का भेद नहीं कर पाता। परिणामस्वरूप आगे चलकर पढ़ाई में नीरसता का अनुभव कर सकता है तथा नौकरी आदि उसे नीरस मालूम हो सकती है,। ऐसा इसलिये होता है कि उनमें प्रवंचना बर्दास्त करने की क्षमता नहीं बन पायी रहती।

इस काल की विषम परिस्थितियाँ—कभी-कभी कुछ ऐसी परिस्थितियाँ उपस्थित हो जाया करती हैं जो कि बच्चों के उचित विकास में अवरोधक हैं।

(१) **माँ की मृत्युः**—यदि माता का देहांत हो जाता है तो बच्चे को उचित और वास्तविक लाड़ प्यार नहीं मिल पाता। उसमें स्वरक्षा के भाव नहीं जगते। इसके परिणाम स्वरूप उसके अन्दर आत्मनियन्त्रण के स्थान पर लज्जा या संदेह के भाव पैदा हो जाते हैं।

(२) **अभिभावक का अधिक सख्त होनाः**—ऐसी स्थित में बच्चा कुछ नया कौशल नहीं सीख पाता। यदि वह कोई नया काम करना

चाहता है और अभिभावक का डाँट खा जाता है तो उसके अन्दर भय-ग्रंथि का निर्माण हो जाता है। एक लड़की शौच-शिक्षण के समय माँ से इतनी डर चुकी थी कि बाद के जीवन में भी बार बार अपना हाँथ धोया करती थी। उसे लगता था कि मानो हाँथ में कुछ गंदगी लगी हुई है।

(६) बीमारी का होना:—इस काल में बच्चा स्वतंत्र रूप से जमीन पर खेलना, स्वेच्छया खाना पीना तथा दौड़ना चाहता है। यदि वह बीमार हो जाता है तो उसकी ये इच्छाएँ अतृप्त ही रह जाती हैं। इस प्रकार उसके अन्दर आत्मनियंत्रण— के भाव नहीं पैदा हो पाते।

(४) संतुलित आहार का न मिलना:—इस समय बच्चे की मांस पेसियाँ बनने की स्थिति में रहती हैं। यदि बच्चे को संतुलित आहार नहीं मिलता तो इन मांसपेशियों तथा अन्य शारीरिक रचनाओं का विकास कुंठित हो जाता है। कभी-कभी कई प्रकार के रोग भी हो जाया करते हैं। विटामिन डी की कमी के कारण होने वाला सुखंडी रोग बहुधा ऐसे बच्चों में पाया जाता है।

सामाजिक कार्यकर्ता के कार्य:—(१) सामाजिक कार्यकर्ता को चाहिए कि वह अभिभावकों को प्रेरित करे कि वे बच्चों को संतुलित आहार देने की चेष्टा करें खास कर इस काल में बच्चों के लिए मछली का तेल दूध तथा फल का मिलना अति आवश्यक है। इन वस्तुओं की प्राप्ति से हड्डी तथा मांस पेसियाँ सुदृढ़ बनती हैं और शरीर बीमारियों से मुक्त रहता है।

(२) शौच-शिक्षण:—इस सम्बन्ध में सामाजिक कार्यकर्ता का कार्य बहुत ही महत्व पूर्ण है। इस काल में बच्चे को साफ रहना, कपड़ा पहनना, पेशाब एवं शौच आदि नियमों का ज्ञान कराया जाता है। इस

लिये कुछ लेखकों ने इस काल को गुद्कामावस्था न कहकर शौच शिक्षण के भी नाम से सम्बोधित किया है।

इस काल के कार्य सम्पादन में माँ की कुशलता बहुत ही आवश्यक है। अधिकांश भारतीय माताएँ, चाहे वे शिक्षित हों अथवा अशिक्षित उपरोक्त कार्यों को शारीरिक यातना के भय के आधार पर सम्पादित कराना चाहती हैं। यदि बच्चा नहाना नहीं चाहता तो माँ मार पीट कर नहलाती हैं। वह सोचती है कि बच्चे में इसी प्रकार नहाने की आदत पड़ेगी। उसे यह विचार नहीं है कि उसका यह दुर्व्यवहार बच्चे के उचित विकास में कितना बाधक है। बच्चे प्रायः अपने प्रति इन व्यवहारों के फलस्वरूप मां के प्रति बहुत ही आक्रोश भाव रखते हैं। इस काल में बच्चा स्वाभाविक रूप से मिट्टी में खेलना चाहता है किन्तु पढ़ी लिखी माताएँ कपड़ों के गंदा हो जाने के भय से उसे जमीन पर या मिट्टी से खेलने से रोक दिया करती हैं। इस प्रकार से उसको इस इच्छा का हनन होने से भी उसमें आत्मनियन्त्रण के भाव पैदा होने की गुंजाइश कम हो जाती है। शौच शिक्षण के सिलसिले में अधिक सख्ती बरतने से बच्चों में कभी-कभी शारीरिक विकार भी पैदा हो जाया करते हैं। इनमें से अतिसार, कब्ज, वमन और 'भय-ग्रंथि' मुख्य हैं। इन बातों की ओर अभिभावक का ध्यान सामाजिक कार्यकर्ता को अवश्य ही आकृष्ट कराना चाहिए।

(३) सामाजिक कार्यकर्ता को चाहिए कि अभिभावकों को प्रेरित करें कि जब बच्चा दौड़ना चाहे, किसी वस्तु को उठाना चाहे या अपने हाँथों खाना खाना चाहे तो वे उसे स्वीकृति तथा सहयोग दें। ऐसा करने से बच्चे की स्वतन्त्र रूप से काम करने की इच्छा संतृप्त होगी और इससे उसकी वंचना दूर होगी और वह आनन्दित होगा। उसकी 'स्व' शक्तिशाली बनेगी। प्रायः लोगों की इस समय तक यह इच्छा होने लगती है कि बच्चा परिवार के स्तर के अनुसार आचरण करने लगे, किन्तु बच्चे

के लिए ऐसा कर सकना बहुत ही कठिन है। बच्चा तो बौद्धिक स्तर पर अभी काफी पीछे रहता है। सही और गलत का निर्णय उसके आनंद पर निर्भर करता है। इन कारणों से उसके द्वारा गलती होना स्वाभाविक है। इसके लिए अभिभावक को न तो चिंतित होना चाहिए और न तो बच्चे के प्रति सख्ती ही बरतनी चाहिए। किन्तु हाँ, यदि वह असामाजिक कार्य करता है तो अभिभावक बच्चे से अपना प्यार खींच ले और सही कार्यों पर ही मान्यता और प्रोत्साहन दे। इससे बच्चा धीरे-धीरे वास्तविकता को जान सकेगा।

(४) सामाजिक कार्यकर्ता को चाहिए कि ऐसे बच्चों के अभिभावकों को, जिनकी कि मुखकामावस्था में चूसने या चबाने आदि की इच्छा संतृप्त न हो पायी हो या जो अभी भी अँगूठा या कपड़ा चूसते या दाँत से काटते हों; प्रेरित करें कि वे बच्चों को अर्ध-द्रवित आहार दिया करें। जैसे संतरे की फाँक आदि।

(५) अभिभावकों को चाहिए कि इस काल के बच्चों के लिये खिलौनों आदि का खूब उत्तम प्रबन्ध रखा करें ताकि वे इन खिलौनों की तोड़-फोड़ के द्वारा अपने आक्रोशभाव का उन्नयन कर सकें और नए कौशल को सीखने में उनकी जिज्ञासा बनी रह सके।

(६) सामाजिक कार्यकर्ता को चाहिए कि अभिभावकों को इस तरफ आकृष्ट करें, कि वे बच्चों को घर के बाहर दूर-दूर तक न टहलाया या घुमाया करें। अपने घर के सामने या काफी निकट के पड़ोस तक ही घूमने टहलने की व्यवस्था रखें, क्योंकि इस काल में बच्चों के ऊपर कुछ संक्रामक रोगों जैसे हैजा, आंत्य-ज्वर, चेचक, डिपथेरिया तथा कुकुर खाँसी आदि, का तेजी के साथ असर हो सकता है। बच्चों में इन रोगों से लड़ने की शक्ति कम होती है। इस शक्ति का धीरे-धीरे विकास होता है।

(७) सामाजिक कार्यकर्ता को चाहिए कि माताओं को यह बताए कि बच्चों को दिए जाने वाले गाय या भैंस के दूध को १२५ डिग्री से० तक गरम किया करें। प्रायः ये जानवर क्षयरोग से ग्रसित रहते हैं। ऐसे जानवरों के दूध के साथ ही क्षयरोग के कीटाणु बाहर आ जाते हैं। यदि इसी दूध को बच्चों को दिया जायगा तो उन्हें भी क्षयरोग होने की सम्भावना बढ़ जाती है। दूध को दो या तीन उबाल तक गर्म कर देने से ये कीटाणु मर जाते हैं। कुछ डाक्टरों की राय है कि भारत में व्यापक स्तर पर फैले हुए क्षयरोग का मूल कारण यही है कि आमतौर पर लोग कम गर्म अथवा क्षय रोग के कीटाणुओं से युक्त दुग्ध का पान किया करते हैं।

अध्याय ४

इडिपल कामावस्था या प्रजनन कामावस्था

यह काल ३ वर्ष की अवस्था से ६ वर्ष की अवस्था तक माना जाता है। इस समय तक बच्चे की जननेन्द्रिय कायिक-रचना-शास्त्रानुसार पूर्ण-विकसित हो चुकी रहती है। इसी वजहसे जननेन्द्रिय को स्पर्श करने से बच्चे को कामुक सुख वैसा ही मिलता है जैसे कि मुखकामावस्था में बच्चे को मुख द्वारा स्तनपान करने से, गुद्कामावस्था में गुदाद्वार द्वारा मल विसंजन करने से और किशोरावस्था—में स्त्री को स्तन स्पंश होने से। इसी कारण से इस काल को कुछ विद्वानों या लेखकों ने इडिपलकाल न कह कर प्रजननकामावस्था के ही नाम से संबोधित किया है। यह तो रही कायिकरचना की बात।

इस समय सम्वेगात्मक रूप से बालक माँ की तरफ और बालिका पिता की तरफ खिंची रहती है। उसे इस प्रकार बड़ा कामुक आकर्षण रहता है। यहाँ तक कि बालिका अपने माँ का स्थान ले लेना चाहती है। वह पिता से उसी प्रकार का प्यार एवं अधिकार प्राप्त करना चाहती है। जिस प्रकार कि उसकी माँ उसके पिता पर प्रात किए है। पर ऐसा नहीं हो पाता। उसे माँ उसकी सफलता में बाधक मालूम देती है। इसीलिए वह माँ से बड़ी ईर्ष्या रखती है। बालक भी ठीक इसी प्रकार बाप से ईर्ष्या रखता है क्योंकि पह भी माँ का प्यार एवं अधिकार वैसे ही चाहता है जैसे कि पिता उसकी माँता पर प्रप्त किए हुए है। पर वह भी इसमें असफल ही रह जाता है। अतएव पिता को ही उस मार्ग में बाधक समझ कर उससे ईर्ष्या करता है। मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि यह इडिपल

ग्रंथि के कारण होता है। पर इस व्यवहार के पीछे एक और भी कारण हो सकता है। बालक या बालिका इस काल में सम लिंगी के साथ यानी बालिका माँ के साथ और बालक पिता के साथ तादात्म्य स्थापित करना चाहते हैं। उनके चरित्र को अपने साथ उतारना चाहते हैं। अतएव दोनों को यानी बालिका को माँ के अनुशासन के अन्दर और बालक को पिता के अनुशासन के अन्दर रहना पड़ता है। उस अनुशासन काल में बालिका को माँ के और बालक को पिता के आदेश अप्रिय लगते हैं। अतएव वे इनसे दूर होना चाहते हैं तथा विपरीतलिंगी अभिभावक के ही सानिध्य में रहना पसंद करते हैं। वहाँ उन्हें अनुशासन-आदेशों का खतरा बहुत कम रहता है।

शारीरिक विकासः—यों तो विकास पूरे जीवन भर चलता रहता है—पर वृद्धि पाँच वर्ष की आयु तक पूर्ण हो जाती है। मस्तिष्क की वृद्धि-सीमा पाँच वर्ष तक पूरी हो जाती है। इस काल में शरीर में औसतन प्रतिवर्ष तीन इन्च की वृद्धि होती है। छः वर्ष की आयु पूरी होते बालक की लम्बाई ४४'५" से लेकर ४८'५" तक हो जाती है। लिंग भेद से लम्बाई में कोई अन्तर नहीं पड़ता; बालक बालिका दोनों इसी गति से बढ़ते हैं। शरीर-भार-वृद्धि मन्द गति से होती है। शरीर भार औसतन ३ से पाँच पौंड तक प्रतिवर्ष बढ़ता है। इस समय औसतन शरीर भार ४८'५ से लेकर ५६'५ पौंड तक रहता है। मांसपेशियाँ एवं हड्डियाँ सभी बढ़ती हैं। अब तक दो स्थायी दाँत-बन चुके रहते हैं। इस समय बच्चे के शारीरिक विकास के लिए निम्नलिखित वस्तुओं की आवश्यकता होती है। इनकी पूर्ति होनी आवश्यक है।

(१) दूधः—इसके अन्दर कैल्सियम् रहता है जो कि हड्डी निर्माण एवं विकास में सहायक है। इसके अतिरिक्त दाँतों की दृढ़ता के लिए

विटामिन की भी जरूरत होती है जो प्रचुर मात्रा में दूध के अन्दर उपलब्ध है।

(२) निद्राः—बच्चे को स्वतंत्र रूप से शयन करने देना चाहिए। उसकी नींद में किसी प्रकार की बाधा न पड़नी चाहिए। इस काल के बच्चे को कमसे कम १४ घंटे प्रतिदिन शयन करना चाहिए।

बौद्धिक विकास—इस समय बच्चा बहुत ही जिज्ञासु रहता है। अनेक प्रकार के प्रश्न उसके अन्दर नाचा करते हैं। इन प्रश्नों के उत्तर के लिए वह आतुर रहता है। प्रायः अभिभावकों से पूछा करता है कि चन्द्रमा क्या है, कैसे घूमता है, घास क्या है, क्यों हरी है यह कैसे उगती है? इतना ही नहीं अपितु अपने शरीर के तथा यौन विभेद के बारे में भी अनेक प्रकार के सवाल किया करता है। वह माँ या पिता से पूछता है कि अम्मा! (बाबूजी!) बच्ची को छुन्नी (एक प्रकार की जननेन्द्रिय) क्यों नहीं है? या बच्ची पूछती है कि भैया की तरह मुझे क्यों नहीं है आदि? इस हीन भावना की मनोगाँठ की इति बालिका के नव यौवन के आगमन के साथ प्रारम्भ हो जाती है और कुछ ही समय में यह मानसिक विकार दूर भी हो जाता है। इसका कारण यह होता है कि बालिकाओं का सौन्दर्य मुखरित होने लगता है। विपरीत लिंगी या नवयुवक उनकी ओर आकृष्ट होने लगते हैं। अपनी इस मोहजनक शक्ति के कारण उसे कुछ गर्व और आत्म सत्ता तथा विशेषता का ज्ञान हो आता है—फलस्वरूप उसमें से वह पुरानी हीन भावना (जिसका कि कारण यही था कि वह पुरुषों या बालकों से कुछ कम शारीरिक हैसियत या पूर्णता की है यह समझ लेने पर कि वैसी बात न हो कर वास्तविकता कुछ भिन्न अर्थात उसमें भी कुछ ऐसे गुण है जो कि पुरुषों के पास नहीं है और जिनके कि कारण वे उनसे कुछ अधिक नहीं हैं और हम नव युवतियाँ उन्हें अपने वश में कर सकती है) निकल जाती हैं।

इस काल में हीन भावना या ईर्ष्या का सृजन मात्र बालिकाओं में ही नहीं वरन् बहुत से बालकों में भी हो जाया करता है। इस अवस्था में प्रायः बालक एक दूसरे के लिंग का निरीक्षण-परीक्षण किया करते हैं। जिस बालक का लिंग अपनी उम्र के अन्य बालकों से छोटा पतला या टेढ़ा-मेढ़ा होता है उसको स्वयं ही तथा कभी-कभी अन्य बालकों के चिढ़ाने से भी, अपने बारे में कुछ हीनता का भान होने लगता है। यदि इस हीन भाव का विकास बालक में हो जाता है तो भविष्य में प्रायः वे ही विकार उसमें आ सकते हैं जो कि लिंग काट लिए जाने का भय खाने के कारण आते हैं। प्रायः उसमें यह बात पैठ गई रहती है कि उसका लिंग वह कार्य नहीं कर सकता जो कि अन्य बालकों का—और शायद इसी कारण उससे कोई युवती संतुष्ट भी नहीं होगी। इसी कारण वे समलिंगी मैथुन या हस्त मैथुन की शरण लेकर बैठ जाते हैं। प्रायः बचपन में वे लड़के जिनकी कि देखभाल निपुण अभिभावक या सेवक नहीं करते, आपस में पेशाब आदि करते समय यह होड़ लगाया करते हैं कि किसकी पेशाब दूर तक जाती है। जिन लड़कों की पेशाब की पिचकारी दूर तक नहीं जाती या जो इस होड़ में पिछड़ जाते हैं, उनमें कभी-कभी हीन भावना की मानसिक ग्रंथिका निर्माण हो जाता है। इसके फलस्वरूप वे भावी जीवन में अपने को अचेतन से प्रभावित होने के कारण कुछ उदासीन या कई कार्यों के लिए अनायास ही अकुशल या अयोग्य समझ बैठते हैं। मनोवैज्ञानिकों ने इस बात को सिद्ध करने की चेष्टा की है कि जो लोग उपरोक्त होड़ में आगे होते रहे हैं उनमें महत्वाकांक्षा की या आत्मप्रदर्शन की भावना अधिक तथा जो पिछड़े हुए रहते हैं उनमें कम होती है। इसके अतिरिक्त यदि कोई नारी अधिक पुरुष-गुण-युक्ता है (अर्थात् जो कि बहुत से ऐसे हिम्मत के या अन्य कार्य करना पसंद करती है जोकि आमतौर पर पुरुष ही करते हैं) तथा कम नारी-गुण-युक्ता हैं, (अर्थात् शील, लज्जा संकोच या कम श्रमयुक्त कार्यों से विमुख है) सदा पुरुषों

से प्रतिस्पर्धा करना चाहती हैं या मर्दों से लड़ती-झगड़ती या विरोध-प्रदर्शन करती रहती है तो इसका अर्थ यह होता है कि उसमें इडिपल काम-अवस्था में बालकों के समान लिंग के तथा उसके द्वारा किए जा सकनेवाले विशेष कार्यों (अधिक दूर तक, पिचकारी के साथ पेशाब आदि कर सकना) के अभाव के कारण जनित स्वाभाविक हीनभावना की मानसिक ग्रंथिका अभी तक विलयन नहीं हो पाया है—अर्थात् किन्हीं कारणों से उसका अचेतन उस हीन भावना का अभी तक शिकार बना हुआ है। इसी अचेतन उद्वेग के फलस्वरूप वह उपरोक्त आचरण करने को बाध्य रहती है। कभी-कभी उस प्राचीन हीन भावना का आगे चलकर भी विलयन इसलिए नहीं हो पाता कि या तो इडिपलकामावस्था में ही यह हीन-भावना बहुत गहराई से घर कर चुकी रहती है, नारी में प्रारंभ से ही विकृत शारीरिक रचना या लम्बी बीमारी आदि के कारण सौन्दर्य का अभाव रहता है—फलस्वरूप वह पुरुषों के लिए आकर्षण के स्थान पर विकर्षण की वस्तु सी रहती है, या उन पर अभिभावकों की इतनी कड़ी और अनुचित निगरानी रहती है कि नवयुवती अपनी सजावट या प्रदर्शन के लिए कुछ कर ही नहीं पाती।

इस काल के बच्चों की जिज्ञासा प्रायः निम्नांकित दो प्रकार की होती है।

(१) प्रकृति सम्बन्धी—अर्थात् यह पूछना या जानना कि सूर्य या चन्द्र क्या हैं, कैसे उगते हैं, क्यों इतने बड़े हैं; तथा यह किस चीज का पेड़ है और कैसे उगता है आदि ?

(२) शरीर सम्बन्धी—अर्थात् अभिभावक से यह पूछना कि अमुक की छुन्नी मुझसे बड़ी क्यों या बच्ची को मेरी तरह की छुन्नी क्यों नहीं है या अमुक के पेशाब की धार क्यों दूर तक जाती है और मेरी यहीं रह जाती है ? आदि।

इस समय यदि अभिभावक बच्चों के प्रश्नों का उत्तर न देकर उन्हें बुरी तरह से डाँटते-पीटते हैं तो उनकी जिज्ञासा का हनन होता है और वे समझते हैं कि मानों उनसे कोई गलती हो गयी है। अतएव उनके अन्दर अपराधी भाव पैदा हो जाता है जोकि उनके सुविकास में बाधक है।

इसके अतिरिक्त वे माता पिता के साथ अपने सम्बन्ध के प्रति भी बड़े इच्छुक रहते हैं। वे यह चाहते हैं कि दोनों से ही सम्बन्ध बना रहे। इसलिए वे दोनों की इच्छाओं की पूर्ति का ध्यान रखते हैं। यद्यपि हम ऊपर देख चुके हैं कि बच्चा विपरीत लिंगी की तरफ खिंचा रहता है, तथापि सुरक्षा प्राप्ति के उद्देश्य से समलिंगी से भी सम्बन्ध बनाए रखना चाहता है। यह कार्य उसके लिए कठिन होता है। इसीलिए इन दोनों विरोधी भावों के कारण इस काल में बच्चे के अन्दर बहुत ही अन्तर-द्वन्द रहता है।

साम्वेगिक विकास—इस काल में बच्चे के अन्दर अनेक प्रकार के—जैसे—आशंका, प्यार, भूख, ईर्ष्या तथा क्रोध आदि के भाव पैदा होते हैं।

आशंका—बालक जिस समय बालिका को देखता है बड़ा घबड़ा उठता है। वह सोचता है कि इसका जननेन्द्रिय भाग हमारी तरह इसलिए नहीं है कि इसने गलती की होगी और परिणाम स्वरूप इसकी जननेन्द्रिय काट ली गई होगी और इसी प्रकार हमारी भी, जब कभी हमसे गलती होगी, काट ली जायगी। प्रायः इस बात का भय कि यदि मेरी बात नहीं मानोगे तो तुम्हारी छुन्नी काट लूँगा माता-पिता या अन्य बड़े लोग बच्चों को दिखाया भी करते हैं बालक इससे डरकर बड़ों की बातें मान लिया करता है। कभी-कभी इस भय का बालकों के भावी जीवन पर

बड़ा बुरा असर होता है। यदि इस भय की मानसिक ग्रन्थि (कैस्ट्रेशन-कम्लेक्स) का निर्माण बालकों में हो जाता है और कुछ मजबूती पकड़ लेता है तो बड़े होने पर ऐसा देखा जाता है कि ऐसे लोग समलिंगी मैथुन की प्रवृत्ति के हो जाते हैं। इसकी वजह यह है कि उनके अन्तः चेतन में यह डर घर कर चुका होता है कि यदि वे किसी स्त्री से सम्भोग करेंगे तो स्त्री योनि उनके लिंग का नाश कर देगी या उसे खा जायेगी। किन्तु काम भूख की परितृप्ति तो होनी ही चाहिए—इसलिए वे उपरोक्त तरीका अपना लेते हैं। बहुधा ऐसे बहुत से लोग सामाजिक या धार्मिक आदि कारणों से समलिंगी मैथुन या हस्त मैथुन आदि का भी आश्रय नहीं लेते और अपनी काम की भूख को या तो उन्नयन करते रहते हैं या उसकी अतृप्ति के कारण जनित अनेक मानसिक और तज्जनित शारीरिक विकारों के ग्रास बन जाते हैं।

ईर्ष्याः—दूसरी तरफ बालिका बालक के जननेन्द्रिय भाग को देखकर बड़ी ईर्ष्या करती है। वह सोचती है कि बालक का 'लिंग-डंड' उसके पास एक अधिक तेज तन्तु संग्रह है जो हमें नही मिला है। इसके अतिरिक्त बालकों के समान लम्बी डंडी वाले लिंग के अभाव में वह उनकी तरह दूर तक पिचकारी फेकने की कलाके साथ पेशाब भी नहीं कर सकती। इन दो कारणों से वह बालकों के प्रति ईर्ष्या रखती है तथा उपरोक्त अभावों के कारण उसमें हीन भावना का भी उदय हो जाता है। आम तौर पर करें ताकि विषमलिंगी अभिभावक का प्यार पा सकें।

बालक माँ-बाप का उचित लाड़ प्यार चाहता है और दोनों के प्रति प्यार का भाव भी रखता है। इस समय तक वह असहाय ही रहता है, वह सोचता है कि यदि प्यार न करूँगा तो पिता नाराज हो जायेंगे और मेरी सुरक्षा को आघात पहुँचेगा। वह सोचता है कि उसे कौन खिलाएगा, पिलाएगा आदि। अतएक पिता से सारी प्रतिस्पर्धा या ईर्ष्या रखने के बावजूद भी वह उसे प्यार करता है। ठीक ऐसी ही बात बालिका और

माता के बीच के सम्बन्ध के बारे में होती है। इसीलिए कहा गया है कि इसकाल में बच्चे के अन्दर अभिभावक के प्रति दुहरे भाव रहते हैं।

यदि बच्चा इस समय अभिभावक द्वारा तिरस्कृत हो जाता है तो अपने को बड़ा अरक्षित पाता है। उसके अन्दर 'उपक्रमभाव' का निर्माण नहीं हो पाता। इसके अतिरिक्त लाड़ प्यार के अभाव में वह स्वयं से संतुष्ट रहने के लिए हस्तमैथुन या स्वयं की जननेन्द्रिय से खेलने लगता है। वह सोचता "यदि कोई मुझे प्यार नहीं करेगा तो मैं स्वयं से प्यार करूँगा" इसी भाव से प्रेरित होकर वह इंद्रियों से खेलने लगता है और आनन्द प्राप्त करता है। जैसा कि हम जानते हैं कि जननेन्द्रिय भाग में स्पर्श मात्रा से ही बड़ा कामुक सुख या विशेष प्रकार की गुदगुदी लगती है।

इसके अतिरिक्त अपनी 'विरोधभावना' को गुड्डे—गुड़ियों के खेल के माध्यम से भी बच्चे निकाला करते हैं और आनंदित होते हैं।

बच्चा इस समय तक इस योग्य हो गया रहता है कि एक ही समय में दो भिन्न व्यक्तियों को पहिचान सके। इस काल के अंत तक पहुँचते-पहुँचते अपने भाई-बहन पड़ोसी-मित्र तथा स्कूल के कर्मचारियों को अच्छी तरह पहचानने समझने लगे।

मानसिक विकास:—इस काल में स्व (क) पूर्णतः विकसिक नहीं हो पाया रहता, (ख) का प्रत्यक्षीकरण गलत रहता है। इस समय तक वह खेल, परिवार के सदस्यों तथा क्रोध एवं प्यार को तो सही सही बोधन कर सकता है किन्तु अन्य चीजों का नहीं। पाँच छः वर्ष की उम्र पहुँचते-पहुँचते उसकी यह क्षमता कुछ अधिक विकसित हो जाती है। 'ग्रहणात्मक एवं निर्णयात्मक' क्षमता तीन वर्ष की उम्र में अविकसित ही रहती है, पर छः वर्ष की उम्र होते-होते काफी विकसित हो जाती है। 'स्व' की इन तीन क्षमता के अविकसित रहने के कारण ही तीन वर्ष की अवस्था का बच्चा अनेक मधुर कल्पनाओं में विचरण करता

रहता है। यह वस्तु स्थिति को समझ नहीं पाता और कल्पनाओं के ही द्वारा आनंद विभोर होता रहता है। छः वर्ष की उम्र तक 'स्व' की तीनों प्रकार की क्षमताएँ अपेक्षाकृत काफी विकसित हो जाती हैं और बच्चा वस्तु स्थिति को काफी अधिक समझने लगता है; कल्पना लोक से पृथक होने लगता है।

इस काल की मूलभूल आवश्यकताएँ:—

(१) बच्चा इस समय सुरक्षा चाहता है। वह दोनों ही जीवित अभिभावकों का समर्थन चाहता है उसका सम्बन्ध माता पिता दोनों से ही बना रहता है। बालक की पिता से और बालिका की माँ से प्रतिस्पर्धा बनी रहती है। इस प्रकार उनमें इडिपसग्रंथि भी बनी रह जा सकती है जो कि आगे के विकास में व्यवधान पैदा कर सकता है।

(२) बच्चा प्यार और विवेक का भी प्यासा होता है। यदि वह उचित प्यार नहीं पाता तो अनेक असामाजिक व्यवहारों की तरफ उन्मुख होने लगता है और विवेक के अभाव में सही काम नहीं कर पाता।

(३) बच्चे को इस समय एक निश्चित अवधि मिलनी चाहिए जिसके कि अन्दर वह अपनी कामुक इच्छाओं की तृप्ति कर सके। चाहे वह ऐसा यौन सम्बन्धी प्रश्न आदि पूछ कर करे अथवा अपनी इन्द्रियों से खेलकर ही। यदि ऐसा नहीं होता तो बच्चे के बौद्धिक विकास में बड़ी बाधा पड़ती है।

(४) बच्चे को ऐसा अवसर मिलना चाहिए जिसमें कि वह अभिभावकों के प्रति अपनी विरोधी भावनाओं को स्वतंत्र रूप से व्यक्त कर सके। इसमें उसे किसी प्रकार की रोक टोक या दंड भय न हो। यदि दंड आदि दिया जाता है तो उसमें अपराधी भाव पैदा हो सकता है जोकि उसके विकास में बाधक है।

इस काल की विषम परिस्थितियाँ:—इस काल में यदि

निम्नांकित स्थितियाँ बच्चे के सामने आती हैं तो उसका 'स्व' उनको सहन करने में अपने को अक्षम पाता है—फलस्वरूप बच्चों का विकास कुंठित हो सकता है।

(१) **पिता की मृत्यु** :—इस काल में बालक अपने पिता से तादात्म्य स्थापन करता है, उसके 'धर्म' को सीखता है। यदि उसका पिता नहीं है तो उसको 'पुरुष-धर्म' सीखने में बड़ी कठिनाई पड़ती है और फिर वह समलिंगी जनों में समायोजन नहीं स्थापित कर पाता।

इसके अतिरिक्त उसकी जो अपने पिता से प्रतिस्पर्धा होती है—वह पिता के अभाव में पनप नहीं पाती—जो कि आगे के विकास के लिए आवश्यक थी। इसी प्रतिस्पर्धी भाव के ही कारण बालक आगे चलकर अपने सहपाठियों से पढ़ाई लिखाई के सम्बंध में या प्रौढ़ा अवस्था में कर्म क्षेत्र में आकर एक दूसरे से प्रतिस्पर्धा करता है। इससे उसकी कर्तव्य-परायणता बनी रहती है। इसके अभाव में वह निराश या कर्तव्यच्युत हो जा सकता है। यदि पिता की मृत्यु कहीं बच्चे की याद में ही हो गयी तो यह उसके लिए और भी कष्टदायक होता है। इससे बच्चे के अन्दर अपराधी भाव पैदा हो जाता है। वह सोचता है कि मेरी गलती के ही कारण पिता जी की मृत्यु हो गई।

बालिका में विषम लिंगी के प्रति आकर्षण नहीं बन पाता जिससे उसका गार्हस्थ्य जीवन भार स्वरूप हो जा सकता है।

(२) **माता की मृत्यु** :—यदि इस काल में बालक की माँ नहीं रहती तो उसका जो सहज-कामुक आकर्षण माँ की ओर बनने वाला था नहीं बन पाता। इस कारण से वह भावी जीवन के लिए पूरी तौर पर ठीक ढंग से तैयार नहीं हो पाता, इतना ही नहीं यदि कहीं माँ के अतिरिक्त परिवार में चाची या कोई भी अन्य बड़ी स्त्री न रह गई हो तब तो बहुत ही अधिक सम्भावना है कि वह समलिंगी मैथुन का आदी हो जाय और बाद के जीवन में भी शादी या यौन सम्बन्ध न स्थापित करे। इसका

कारण यह होता है कि उसे विषम लिंगी में कोई आकर्षण नहीं रह जाता। बालिका को माँ के अभाव में स्त्री चरित्र का उचित ज्ञान नहीं हो पाता। इस कारण से वह अपनी सहेलियों आदि में अच्छा समायोजन नहीं स्थापित कर पाती। माँ के प्रति होने वाली प्रतिस्पर्धा के अभाव में कर्तव्य च्युत भी हो सकती है।

(३) **माता-पिता दोनों की मृत्यु** :—ऐसी स्थिति में बालक एवं बालिका दोनों किम्कर्तव्य विमूढ़ हो जाते हैं। यदि परिवार के अन्य लोग माता-पिता के चरित्र को स्वयं संपादित नहीं करने लगते तो बच्चे बड़ा ही घबड़ा जाते हैं और अपने को अरक्षित समझने लगते हैं। ऐसी स्थिति में वे अनेक प्रकार के अस्वस्थ 'स्व प्रतिरक्षात्मक' क्रियाओं को अपना लेते हैं तथा विरोध भावना के परिणाम स्वरूप उनमें आमाशय सम्बंधी अनेक विकार—यथा—वमन करना, दस्त करना तथा कब्ज आदि एवं कई प्रकार के अभद्र व्यवहारों का श्रीगणेश हो जाता है।

(४) **कठिन बीमारी** :—इस काल में बच्चे को कठिन बीमारी हो जाने से उसके विकास में बाधा पड़ती है, क्योंकि इस काल में बच्चे का मुख्य कार्य होता है अपने में उपक्रम के भाव पैदा करना जो कि स्वस्थ रह कर ही ठीक प्रकार से पूरा किया जा सकता है। अस्वस्थ्य होने पर बच्चा कुछ भी कर सकने में या नई चीज सीख सकने में असमर्थ रहता है।

बच्चे के बीमार होने पर अभिभावक कुछ घबड़ा से उठते हैं। वे हमेशा सभी उन प्रयत्नों को किया करते हैं जिनके द्वारा कि बच्चे को आराम मिल सके। इस प्रकार बच्चा इस समय अपनी समस्त माँगों को पूरा कर लिया करता है। बाद में अच्छा हो जाने पर पुनः चाहने लगता है कि उसकी सभी माँगें पूर्ववत् ही उसके अभिभावक गण पूरी कर दें। यदि वे ऐसा नहीं करते तो बच्चा पुनः अपने को बीमार प्रदर्शित करने की चेष्टा करता है और इसी बीमारी के माध्यम से अपनी इच्छाओं की पूर्ति करवाना चाहता है।

(५) **नये भाई अथवा बहन का जन्म :—**इस काल में यदि परिवार में कोई नया बच्चा पैदा हो जाता है तो माता-पिता का लाड़ प्यार पहले के बच्चों से कुछ खिंच जाता है। परिणामस्वरूप इस काल से गुजर रहे बच्चों में माँ के तथा नवागन्तुक बच्चे के प्रति चिढ़ तथा जलन पैदा हो जाती है। इस चिढ़ या जलन का प्रदर्शन वे बिस्तर पर पाखाना पेशाब आदि करके करने लगते हैं। कभी-कभी स्वयं से संतुष्ट होने के लिए अंगूठा आदि चूसने लगते हैं।

(६) उपरोक्त बातों के अतिरिक्त बच्चों के प्रति अभिभावकों की कुछ ऐसी मनोवृत्तियाँ भी हैं जो कि उनके लिए विषम परिस्थितियाँ पैदा कर देती हैं। इनमें से कुछ मुख्य निम्नांकित हैं।

(क) यदि अभिभावक बच्चे के प्रति तटस्थ नीति अपनाएँ तो बच्चे उनसे तादात्म्य-स्थापन या अनन्यबोधन नहीं कर पाते और अपने कर्तव्यों को नहीं समझ पाते। इससे उनके साथ समाज में समायोजन की समस्या बनी रहती है।

(ख) यदि अभिभावक बच्चे के प्रति तिरस्कार का भाव रखता है तो बच्चा भी आगे के जीवन में अपने बच्चों के साथ वैसा ही भाव रख सकता है। वह सोच सकता है कि यही भाव और तज्जनित व्यवहार सामाजिक मान्यता प्राप्त है।

(ग) यदि अभिभावक जरूरत से ज्यादा अपने बच्चों का ख्याल किया करते हैं, हमेशा इस कोशिश में रहते हैं कि बच्चे को कोई कष्ट, कोई निराशा तथा कोई नाराजगी न हो तो भी बच्चे भावी जीवन के लिए ठीक तरह से तैयार नहीं हो पाते। इसका कारण यह होता है कि उनमें निराशा बरदास्त करने की आदत नहीं बनी रहती। थोड़ी सी भी निराशा मिलने पर वे घबड़ा जाते हैं और समाज में स्वयं को समायोजित नहीं कर पाते।

(घ) यदि अभिभावक नम्र विचार के होते हैं तो बच्चे आगे के जीवन में सफल नहीं हो पाते इसका भी कारण उपरोक्त ही है। हम जानते हैं कि जीवन में अनेक बार ऐसी अवस्थाएँ आती हैं जिनमें कि निराशाओं को बरदास्त करके ही हम अपनी अस्तित्व रक्षा कर सकते हैं।

(७) बच्चों में अधिक उत्तेजना का होना भी कष्ट दायक ही है। अत्यधिक उत्तेजना के परिणाम स्वरूप बच्चे हस्तमैथुन, समलिंगी मैथुन, या यौन सम्बंध स्थापन कर सकते हैं। इन व्यवहारों को अपना लेने के बाद उन्हें लोकलज्जा लग सकती है। इस लोकलज्जा के परिणामस्वरूप उनमें अपराधी भाव पैदा हो सकता है। इसके कारण उनके विकास में बाधा उत्पन्न हो सकती है। अपराधी भाव के कारण बालक घबड़ा जाता है, उसे लगता है कि इसी व्यवहार के कारण वह समाज में उपेक्षित है। फलस्वरूप आगे के वैवाहिक जीवन के समय में वह स्त्री से यौन सम्बंध करने में हिचकता है जिससे कि वैवाहिक सम्बंध में कटुता आ सकती है।

(८) यदि इस काल में बच्चा किसी आघातज अनुभव से गुजरता है तो बहुत सम्भावना रहती है कि वह 'असामान्य भय' या 'उद्विगनता-दौर' से ग्रसित हो जाय।

सामाजिक कार्यकर्ता के कार्य :—

(१) सामाजिक कार्यकर्ता को चाहिए कि वह अभिभावकों को प्रेरित करे कि वे अपने बच्चों को इस काल में यौन सम्बंधी ज्ञान कराएँ ताकि उनकी जिज्ञाशा पूरी हो, तथा उनमें अपराधी भाव न पैदा हों। अन्यथा उनके अन्दर इस काल का जो मुख्य कार्य है "उपक्रम-भाव का पैदा होना" नहीं पैदा हो पाता। और आगे का भी विकास कुंठित हो जाता है दूसरी बात-जो ध्यान देने योग्य है वह यह है कि बालिकाओं को भी ज्ञान कराया जाय कि वे बालकों से किसी अर्थ में कम नहीं है। यदि बालक के पास कुछ अतिरिक्त (छोटी डंडी रूपी छुन्नी) है तो बालिका

भी बच्चा पैदा कर सकने की अतिरिक्त क्षमता रखती हैं। इस प्रकार बालिकाओं के अन्दर से बहुत कुछ हीन भाव तथा आशंकाएँ समाप्त की जा सकती हैं। इसके अतिरिक्त बालक या बालिकाओं के यौन सम्बंधी जितने भी प्रश्न हों उन सबका संतोष जनक ढंग से उत्तर देने का प्रयास करना चाहिए—उनको चिढ़ाना या डाँटना नहीं चाहिए। उत्तर देने में इतनी सावधानी अवश्य बरतनी चाहिए कि उत्तर देते समय कोई विशेष हाव भाव न प्रगट हो. नहीं तो बच्चे अपने प्रश्न को कुछ विचित्र-सा समझने लग सकते हैं और उन्हें प्रश्न करने में हिचक पैदा हो सकती है। प्रश्नों के उत्तर सहज ढंग से दिए जाने चाहिए।

(२) सामाजिक कार्यकर्ता को चाहिए कि बच्चे की इडिपसग्रंथि दूर करने के लिए आभिभावक को बताए कि वह बच्चों को अनुशासित करे। अनुशासन से बालक का पिता के प्रति और बालिकाओं का माँ के प्रति होनेवाली ईर्ष्या में कमी आती है। पिता को बालक के प्रति कुछ नरम व्यवहार का होना चाहिए जिससे कि बालक समझे कि पिता शत्रु नहीं अपितु प्यार का श्रोत है इस प्रकार पिता से जो शत्रु भाव है वह समाप्त हो जाता है। इसके अतिरिक्त बालक का माता से और बालिका का पिता से लगा हुआ प्यार धीरे-धीरे दूसरी दिशा में परिवर्धित करते रहना चाहिए जिससे कि इडिपसग्रंथि दूर होने में सहूलियत मिले। इसके लिए बेहतर तरीका यह होगा कि बच्चों को पड़ोस या अन्य वातावरण की तरफ आकृष्ट किया जाय जिससे कि माता या पिता की तरफ लगा हुआ आकर्षण उधर से हटकर अपने पड़ोस के बच्चों की तरफ खिंच सके।

(३) सामाजिक कार्यकर्ता को चाहिए की अभिभावकों को बताए कि इस काल में यदि बच्चा फोड़े या अन्य प्रकार के कष्ट से पीड़ित हो तो उसे शल्य चिकित्सा से दूर ही रखने की कोशिश करे। यदि बहुत ही जरूरी हो और डाक्टरों की राय हो तो बात इतर है। इस काल में शल्य चिकित्सा कराने से बच्चे पर बड़ा भावात्मक धक्का लगता है। इस

धक्के के फलस्वरूप बच्चे में आशंका का जन्म हो सकता है। इस आशंका के कारण भय का लगना तथा साहस में कमी का आना आदि सम्भावित है। पर बड़े दुर्भाग्य की बात है कि भारत में खासकर ग्रामीण क्षेत्रों में मामूली-मामूली फोड़े फुंसी के लिए भी अभिभावक बच्चों को शल्य चिकित्सा के लिए शल्यकों के यहाँ ले जाते हैं और शल्यक भी झट से चीर फाड़ करके दवा दारू लगा देते हैं। यह तो रही सामान्य परिवार की बात। निम्न आर्थिक स्तर के परिवारों के बच्चों के फोड़े फुंसी का मुख्य शल्यक तो गाँव का नाई ही होता है। वह अपनी नहन्नी से सभी चीड़ फाड़ कर देता है। इस प्रकार से की गई शल्य चिकित्सा से बच्चों को कितना कष्ट होता होगा यह तो समझा ही जा सकता है।

(४) सामिाजिक कार्यकर्ता को चाहिए कि अभिभावकगण को सचेत करे कि इस काल में यदि बच्चे को तीव्र बुखार हो आवे तो उसका शीघ्रातिशीघ्र उपचार कराया जाय। बच्चे का मस्तिष्क अभी विकास की अवस्था में रहता है, वह तीव्र तथा लम्बे बुखार को बरदास्त करने की क्षमता नहीं रखता। तेज बुखार में काफी सम्भावना रहती है कि मस्तिष्क• विकृत हो जाय।

(५) अभिभावकों को यह बताएँ कि इस काल में बच्चा अभी इस योग्य नहीं हो गया होता कि उससे यह आशा की जाय कि वह स्वयं से साफ सुथरा रहेगा, बालों में कंघी करेगा तथा पाठशाला आदि जाया करेगा। अभिभावकों को चाहिए कि बच्चों की इन सब मामलों में मदद करे। यदि वे इस तरफ ध्यान नहीं देते तो बालक गंदा बना रहता है और फलस्वरूप समाज में तिरस्कार एवं अन्य बच्चों द्वारा मजाक का विषय बन सकता है। यदि बच्चा इस प्रकार से तिरस्कृत होता रहेगा तो उसके अन्दर हीन भाव पैदा हो सकता है जो कि उसके भावी जीवन को प्रभाविक कर सकता है। वह जिन्दगी में अपने मनोभावो को व्यक्त कर

सकने में हिचकिचाहट का अनुभव कर सकता है तथा उसको पढ़ने आदि में भी अरुचि बनी रह सकती है।

(६) कार्यकर्ता को चाहिए कि अभिभावकों को बताए कि यदि बच्चा अपनी जननेन्द्रियों से खेलता है तो इससे शारीरिक तौर पर कोई हर्ज नहीं होता। इसके लिए बच्चों को मारना या डाँटना नहीं चाहिए। यदि वे ऐसा करते हैं तो उनके अन्दर अपराधी भाव पैदा हो सकता है जोकि उनके स्वास्थ्य और बौद्धिक विकास में बाधा उपस्थित कर सकता है।

(७) इस काल में बच्चे के लिए खेल तथा खिलौनों का भी बड़ा महत्व है। खिलौनों तथा खेल (गुड्डे-गुड़िया के खेल आदि) द्वारा वे अपनी 'विरोध भावना' को निकालते रहते हैं।

—:※:—

अध्याय ५

तिरोहित कामावस्था

यह काल ६ वर्ष से लेकर १२ वर्ष तक का माना जाता है। इस समय बच्चा सर्वांगीण विकास में तीव्रगति प्राप्त करता है। अब वह घर के अतिरिक्त स्कूल के वातावरण में आ जाता है। उसका सम्बन्ध और साथ अब सिर्फ माता-पिता या परिवार के सदस्यों के साथ ही नहीं वरन् स्कूल के अन्य बच्चों एवं अधिकारियों के साथ भी स्थापित हो जाता है। उन बच्चों के लिए इन सम्बन्धों के उचित स्थापन में कठिनाई रहती है जोकि अभी तक के जीवन अर्थात् मुखकामावस्था, गुद्‌कामावस्था तथा इडिपल कामावस्था में क्रमशः 'विश्वास', 'आत्मनियंत्रण' एवं 'उपक्रम' का जन्म अपने में नहीं कर पाये रहते। इतना ही नहीं वरन् ऐसा भी देखा जाता है कि ऐसे बच्चे स्कूल भी जाना पसंद नहीं करते। वे घर पर भाई-बहन के प्रति ईर्ष्यालु रहते हैं। किंतु वे बच्चे जिनका कि विकास अभी तक के पिछले कालों में उचित रूप से हुआ रहता है, धीरे-धीरे वास्तविकता को पहचानने लगते हैं। वे स्कूल में स्वयं के अनुभव से देखते हैं कि सही कार्य करने पर अन्य बच्चे तथा अध्यापक भी उसके प्रति प्यार या सद्‌भावना रखते हैं अन्यथा उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं। इस प्रकार वे सही कार्य करने को तत्पर होते हैं।

यों तो विश्वके लगभग सभी देशों के परिवारों में, किंतु भारतीय परिवारों में विशेष रूप से पुरुष का स्थान स्त्री से ऊँचा होता है। इसीसे बच्चे पुरुष अभिभावक से ही तादात्म्य स्थापित करना चाहते हैं और उन्हीं को अपना आदर्श मानकर आगे बढ़ते हैं। हाँ, एक विचित्र चीज देखने

को मिलती है कि इडिपल काल की ही तरह बालक बालिका की तरफ तथा बालिका बालक की तरफ आकृष्ट न होकर प्रायः बालक, बालक की गिरोह में बालिका, बालिका की गिरोह में रहना चाहने लगती है। बच्चे अपने लिंग के अन्य बच्चों को ही अपना मित्र बनाते हैं। बच्चा इस समय आधिकारिक स्थिति को प्राप्त करना चाहता है। वह पुलिस या इसी प्रकार के अन्य पद, जो कुछ स्पष्ट अधिकारयुक्त दीखते हैं, उसे प्राप्त करना चाहता है। वह प्रायः ऐसी ही कल्पनाएँ किया करता है। वह पिता जैसा ही समर्थ होने के लिए उसके आचरण को अपनाना चाहता है। वह पिता की ही तरह प्रातःकाल उठना चाहता है और स्वयम् स्वतंत्र रूप से नये-नये काम करना चाहता है। उसे अपने कार्यों में दूसरे की सम्मति अच्छी नहीं लगती है। इस काल के बच्चे को किसी कामुक आनंद की प्रतीति नहीं होती। प्रायः उसकी काम चेष्टा तिरोहितावस्था में रहती है। बच्चों में जो पहिले हस्तमैथुन की आदत पाई जाती है वह भी स्वयम् ही समाप्त हो जाती है। संक्षेप में इस काल के लगभग सभी बच्चों का यही स्वरूप होता है। उसकी अन्य शेष विशेषताओं यथा—शारीरिक, साम्वेगिक, बौद्धिक, मानसिक तथा सामाजिक, को नीचे हम कुछ विस्तार में देखने का प्रयास करेंगे।

शारीरिक विशेषताएँ :—इस काल में शरीर-भार कद की तुलना में अधिक बढ़ता है। ११ वर्ष की बालिका का कद औसतन ५८″ एवं बालक का ५७·५″ रहता है। बालिका का शरीर भार ११ वर्ष की आयु तक ८८ ५ पौंड हो जाता है और बालक का ८५·५ पौंड ही रहता है। १२ वर्ष की आयु होते-होते लड़कियों का वजन लगभग ९८ पौंड और लड़कों का ९४ पौंड हो जाता है। इस काल में बालकों का वजन एवं कद दोनों ही बालिकाओं की तुलना में कम रहता है। इसके पीछे एकमात्र कारण यही है कि बालक, बालिकाओं की तुलना में यौवनज वृद्धि लगभग १ वर्ष बाद से शुरू करता है।

सर अभी भी शरीर के अन्य भागों की अपेक्षा बड़ा रहता है पर आनुपातिक विषमता धीरे-धीरे नष्ट होने की ही दिशा में गतिमान होती है। १२ वर्ष की आयु होते-होते सर का धरातल-क्षेत्र पूरे शरीर का १०% हो गया रहता है जबकि ५ वर्ष की आयु में १३% रहता है। इस समय तक कई स्थायी दाँत आ जाते हैं। मुख की निचली सतह में वृद्धि होने से तथा कई स्थायी दाँतों के आ जाने से पूरी मुखाकृति में अन्तर आ जाता है। नाक की भी आकृति बढ़ जाती है। सीना, गर्दन तथा नितम्ब तीनों आकृति में बढ़ते हैं। इस प्रकार शरीर के प्रायः सभी अंगों में विशेष परिवर्तन हो जाने से बालक या बालिका पहले से कुछ भिन्न हो जाती है। अब यह लगने लगता है जैसे वे बाल्यावस्था पार कर किशोरावस्था में पदार्पण कर रहे हों।

यदि उपरोक्त लक्षण बालक या बालिका में देखने को नहीं मिलते तो समझ लेना चाहिए कि वह सामान्य स्थिति में नहीं है और फिर उस समय चिकित्सक तथा वैयक्तिक-सेवा-कार्यकर्ता से सहायता लेनी चाहिए। ऐसा करना इसलिए अनिवार्य है क्योंकि हम जानते हैं कि यह शरीर-भार एवं कद वृद्धि बहुत कुछ परिवार की सामाजिक, आर्थिक स्थिति तथा शरीर की विशेष प्रकार की ग्रंथियों पर निर्भर है। अच्छी तरह सामाजिक-आर्थिक स्थिति का अध्ययन करके वैयक्तिक कार्यकर्ता बच्चे पर से उनके द्वारा जनित कुप्रभावों को हटाने का रास्ता सुझाकर बच्चे को समस्यामुक्त करने में सहायक हो सकता है। चिकित्सक शरीर सम्बन्धी व्याधियों की चिकित्सा कर बच्चे को उचितरूप से विकसित होने में सहायता दे सकता है।

इस सम्बन्ध में एक मनोरंजक घटना की याद आती है। प्रोफेसर राजाराम शास्त्री अमरीका में एक इसी काल की समस्याग्रस्त बालिका की (बालिका की उम्र लगभग ८ वर्ष) वैयक्तिक-सेवा कर रहे थे। समस्या यह थी कि बालिका बहुत मोटी हो गई थी। पड़ोस के बच्चे उसे का

चिढ़ाते थे अतएव वह समायोजन स्थापित नहीं कर पाती थी। बालिका के अभिभावक दुःखी थे और अत्यंत इच्छुक थे कि किसी प्रकार बालिका समस्यामुक्त हो जाय। अध्ययनकाल में जब बालिका की पारिवारिक स्थिति का ज्ञान किया जा रहा था तो पता चला कि उसकी आर्थिक एवं सांख्यिक स्थिति ठीक नहीं है। बालिका घर में सबसे बड़ी लड़की थी और उसके बाद उसके कई छोटे भाई बहन थे। अतएव जब माता-पिता अपने काम पर चले जाते थे तो उस समय इस बड़ी लड़की की ही जिम्मेदारी होती थी कि वह सभी छोटे भाई-बहनों को खिलाये, घुमाये तथा अन्य सभी प्रकार की देख रेख करे। वह इतनी बड़ी जिम्मेदारी निभाने योग्य नहीं थी। अभी तो वह स्वयं ही जिम्मेदारी-रहित होकर स्वच्छंद विचरण करना चाहती थी और उसको स्वयम् की देख-रेख की स्वाभाविक अपेक्षा थी। पर अभिभावक के दबाव के कारण उसे ऊपर कथित सभी कार्य करने ही पड़ते थे। नतीजा यह हुआ कि बालिका के अन्दर अभिभावकों के प्रति आक्रोश या विरोध के भाव पैदा हो गये थे और वह अपने को 'वंचित' सी महसूस करने लगी थी। इसी के फलस्वरूप बालिका प्रतिदिन जरूरत से ज्यादा खाना खाकर अपनी कथित वंचना की पूर्ति करती थी। परिणाम-स्वरूप वह दिनोत्तर मोटी होती गई। उसकी शरीर की स्फूर्ति कम होती गई जिससे खेल आदि में सफलता मिलना उसके लिए कठिन हो गया था। इसी कारण उसे सामाजिक मान्यता मिलने को कौन कहे, वह हँसी-मजाक का पात्र बन गई। इसलिए समस्या से मुक्त करने के लिये उसके अभिभावकों को सुझाव दिया गया कि बालिका को इस जिम्मेदारी का काम न दिया जाय। इसके लिए एक नौकर रख दिया जाय ताकि इसे इस काम से छूटकारा भी मिले और वह अपनी इच्छानुसार काफी समय तक खेल-कूद आदि में सम्मिलित हो सके। इसके अतिरिक्त चिकित्सकों की भी सलाह ली गई जिससे उसका वजन कम हुआ। जिम्मेदारी कम होने से वह उचित मात्रा में लिये गये भोजन से ही संतुष्ट होने लगी। इससे

उसका शरीर-भार ठीक स्थिति में आ गया। इस प्रकार वह कुछ ही समय के अंदर एक सामान्य बालिका के रूप में हो गई। अपनी सहेलियों तथा पड़ोसियों से समायोजन स्थापित करने में समर्थ हो चली।

साम्वेगिक विकास :—इस काल में भी 'सम्वेग' वे ही सब देखने को मिलते हैं जोकि पहले के कालों में। अंतर स्थिति का है—और स्थिति के साथ उससे सामना करने के ढंग में जैसेः—

डर—इस काल में भी बच्चे डरते हैं पर अब जिन जानवरों या स्थितियों से बच्चा इडिपल या गुद्कामावस्था में डरा करता था, उनसे इस समय सामान्यत नहीं डरता है। इस समय काल्पनिक डर अधिक होता है। बच्चा भूत-प्रेत, देवी-देवता से अधिक डरता है। अकारणमृत्यु की कल्पना कर करके डरता रहता है। हाँ, डर उत्पन्न करानेवाले इस काल में स्थूल विषय हैं—अग्नि, बीमारी, डाक्टर, (खासकर दाँत के डाक्टर) कार, मोटर या कुत्ते।

घबड़ाहटः—इस काल में काल्पनिक उत्तेजना के ही कारण घबड़ाहट भी होती है। बच्चा प्रायः परिवार तथा स्कूल की स्थिति से घबड़ाता है। वह समायोजन बनाये रखने में घबड़ाता है। वह कल्पना कर करके घबड़ाता रहता है कि यदि स्कूल में देर से पहुँचा या दिया गया काम नहीं किया तो अध्यापक कैसे मारेंगे या डाँटेंगे और तब मैं क्या करूँगा? दूसरे लड़के मेरे पर हँसेंगे आदि।

आशंकाः—इस काल में उन बच्चों में आशंका के भाव अधिक रहते हैं जो स्कूल में खिलाड़ियों या मित्रों के द्वारा मान्यता नहीं प्राप्त कर पाते या प्रसिद्ध नहीं हो पाते। इस प्रकार के आशंकित बच्चे पढ़ाई में भी अभिरुचि नहीं रख पाते। अध्ययन के आधार पर पाया गया है कि ऐसे बच्चे प्रायः गणित में साधारण स्थलों पर भी अनेक गलतियाँ कर दिया करते हैं।

ईर्ष्याः—इस काल में भी ईर्ष्या देखने को मिलती है, किन्तु अंतर यही है कि इसके पूर्व बच्चे की ईर्ष्या घर के ही छोटे बच्चों से रहती थी पर अब वह स्थानान्तरित होकर स्कूल के साथियों पर आ जाती है। स्कूल के साथियों पर नाना प्रकार के व्यंग्य करना, स्कूल या खेल के मैदान में प्रसिद्धि पा चुके बच्चों को खास-खास अवसरों यथा—प्रार्थना के समय या कहानी-किस्से के समय न बुलाना या धोखा दे देना आदि ऐसे कार्य हैं जो प्रायः ईर्ष्यावशात् बच्चे किया करते हैं।

जिज्ञासाः—जिज्ञासा इडिपलकाल की ही तरह देखने को मिलती है। बच्चा इस समय भी अनेक प्रकार के प्रश्न अपने अभिभावकों से किया करता है। अब उसका प्रश्न मात्र यौन सम्बन्धी या प्रकृति सम्बन्धी ही न रहकर अन्य विषयों पर भी होता है। अब वह पढ़ाई के सम्बन्ध में अनेक प्रकार का प्रश्न करता है। अध्यापक के, स्कूल के तथा कई प्रकार की कलाओं यथा तैरना, साइकिल चलाना या व्यायाम आदि करना, के सम्बन्ध में वह अनेक प्रश्न किया करता है। ये सब उसकी जिज्ञासा के ही प्रतीक हैं।

प्यारः—इस काल में बच्चों के अन्दर पालतू जानवरों के अतिरिक्त मानव की तरफ भी प्यार-जनित खिंचाव रहता है। किंतु वे उसे शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं करते। हम इसे उनके व्यवहारों से समझ सकते हैं। प्रेम-पात्र की मदद करना, उसके बिछुड़ जाने पर उदास-सा हो जाना, उससे टेलीफोन पर वार्ता करना या पत्र-व्यवहार करना आदि उसके प्यार के प्रतीक हैं।

प्रसन्नताः—बच्चा इस समय अपनी प्रसन्नता को ताली बजाकर, हँसकर, ठहाका लगाकर या उछल-कूदकर के व्यक्त करता है। इस समय उसकी हँसी में बड़ों जैसी नम्रता नहीं रहती। वह हँसी के समय समाज की उपेक्षा कर बैठ सकता है। अनेक बार डाँटे या चिढ़े जाने के बावजूद भी यदि वह प्रसन्न हो तो बिना हँसे नहीं मानता।

बौद्धिक विकासः—बच्चा इस समय बड़ा जिज्ञासु रहता है। उसे जो चीज सिखायी जाती है उसे वह अनायास सीख लेना चाहता है। पर वे बच्चे जो 'इडिपसग्रंथि' से अभीतक उन्मुक्त नहीं हुए रहते उनके अन्दर साम्वेगिक रुकावट पैदा हो जाती है। इसके परिणामस्वरूप उनकी स्मरण-शक्ति कम हो जाती है। पढ़ने-लिखने में उनका मन नहीं लगता। किन्तु सामान्य बच्चे लिखना-पढ़ना, गणित, कला-विज्ञान, इतिहास तथा भूगोल आदि का सामान्यज्ञान इस काल के अंत तक प्राप्त कर लेते हैं। अनेक प्रकार के ऐतिहासिक एवं भौगोलिक ज्ञान बच्चों को कहानियों के द्वारा हो जाता है। इस समय भी बच्चा अपने हाव-भाव को व्यक्त करने में प्रतीकों का काफी सहारा लेता है। बालिकाएँ बालकों की तुलना में प्रतीकों को अधिक अपनाती हैं। इस काल के बच्चे शब्दों का सही-सही उच्चारण करने लग जाते हैं। कभी-कभी क्लिष्ट नये शब्दों के उच्चारण में उन्हें पहिले एक-दो बार कठिनाई महसूस होती है किंतु थोड़े ही प्रयास से उसे भी वे ठीक उच्चारित करने लगते हैं। व्याकरण सम्बन्धी भूलों का होना सामान्य बात है। प्रायः वे बच्चे जिनका कि इडिपस-कॉम्प्लेक्स दूर नहीं हुआ रहता, अपने अध्यापकों को भी अभिभावकों जैसा शत्रु समझने लगते हैं और फलतः वे अध्ययन में अरुचि रखते हैं।

मानसिक विकासः—'स्व' का निर्णायक भाग अभी भी अविकसित ही रहता है, इसी के कारण बच्चे निर्णय तो लेने लगते हैं पर उनका निर्णय गलत होता है। निर्णय लेने में 'स्व' उसके 'उत्तमस्व' से काफी मदद पाता रहता है। उदाहरणार्थ वे कार्य जिनको सामाजिक मान्यता नहीं है या जिनका निषेध है उन पर निर्णय लेने में 'स्व' को काफी सहूलियत हो जाती है और वह 'उत्तमस्व' से बहुत प्रभावित होता है।

बच्चा इस काल में एक नये वातावरण में जाता है जिसमें उसे नाना प्रकार की निराशाओं का सामना करना पड़ सकता है। यदि ये निराशायें

उसकी सहन-क्षमता से अधिक हो जाती हैं तो बच्चा पहले की उस स्थिति में आना चाहता है जिसमें उसे स्वरक्षा मिली थी। बच्चों को यदि इसके पूर्व की एक अवस्था (गुद्काम-अवस्था) में स्वरक्षा की आवश्यकता महसूस होती है तो वे अभिभावकों का ध्यान अपनी ओर रुदनकर, अभिभावकों के अंगों या कपड़ों को अपनी ओर खींचकर, जमीन पर लेटकर अथवा निर्दिष्ट कार्यों की उपेक्षा करके आकृष्ट करने की चेष्टा किया करते हैं। उपरोक्त संकेतों का भान पाकर अभिभावक उनकी ओर ध्यान देते हैं तथा बच्चों को स्वरक्षा-प्राप्ति हो जाती है। किंतु इस काल में बच्चे अभिभावकों का ध्यान अपनी माँगों की ओर आकृष्ट करने के लिये उपरोक्त तरीकों को न अपनाकर अभिभावकों के पहनने ओढ़ने या पढ़ने आदि की समाग्रियों को लुकाने-छिपाने, पैसे या कलम आदि को चुराने या घर और स्कूल के अन्य बच्चों के पढ़ाई, खेल या खाद्य-पदार्थों को चुराने की क्रिया करने लगते हैं। कभी-कभी यदि अभिभावकों का उचित लाड़-प्यार या मान्यता न मिली तो वे अपराधी-कार्यों की तरफ भी उन्मुख हो जाते हैं। विभिन्न विचारक विभिन्न कारणों से इस व्यवहार के जन्म का सम्बन्ध जोड़ते हैं। इनमें से कुछ तो यह मानते हैं कि यदि इस काल तक 'इडिपसग्रंथि' विलयित नहीं हो चुकी रहती तो बच्चे के अन्दर 'अपराध भावना' पैदा हो जाती है। इसी के प्रायश्चित-स्वरूप वे अचेतन रूप से सजा पाने के इच्छक हो जाते हैं और उपरोक्त व्यवहार करते हैं। कुछ अन्य मनोवैज्ञानिकों के अनुसार प्यार एवं स्वरक्षा के अभाव में बच्चे प्रायः चोरी के रूप में अभिभावक के प्रति आक्रोश प्रदर्शन करते हैं।

सामाजिक विकासः—इस काल के बच्चे में समाज को समझने और उसके अनुरूप आचरण करने की क्षमता अपेक्षाकृत काफी विकसित हो जाती है। इस समय वह घर के बच्चों के अलावा स्कूल तथा खेल के अन्य बच्चों के संपर्क में आता है। उसके अंदर 'सहयोग' तथा 'त्याग' का भाव पैदा होता है। वह किसी बात विशेष पर कुछ भिन्न इच्छा रखने

की स्थिति में होने पर भी अन्य बच्चों की इच्छा का ध्यान रखता है। वह अपने में छूत-अछूत या गरीब-अमीर आदि का भाव स्वेच्छया नहीं पनपाता। सभी बच्चे एक साथ उठते-बैठते, खेलते-कूदते तथा जलपान आदि करते हैं। इस सम्बन्ध-स्थापन से बच्चे के अन्दर समाज में विभिन्न प्रकार के व्यवहारों के करने के तौर-तरीकों का सृजन हो जाता है।

बच्चों की सामाजिकता के विकास में उनकी उपसंस्कृति का विशेष हाथ रहता है। किंतु स्कूल की मान्यता पर चलने के लिए, राजकीय नियमों के कारण तथा अन्य बच्चों का सहयोग पाने के लिए वह उप-संस्कृति के परे जाकर 'सहयोग' तथा 'त्याग' आदि गुणों को अपने अन्दर विकसित करता है। ब्राह्मणों एवं हरिजनों की उपसंस्कृति में आपस में भिन्नता होती है। ब्राह्मण-उपसंस्कृति में हरिजनों के साथ खान-पान वर्जित है किन्तु ब्राह्मण बच्चा जब स्कूल में जाता है उस समय वह स्त्रउपसंस्कृति के नियमों से परिचित होते हुए भी अपनी उपसंस्कृति से अलग होकर सबके साथ खान-पान रखता है।

इस काल की मूलभूत आवश्यकताएँ

(१) इस काल में बच्चे की शारीरिक आवश्यकता है कि उसे संतुलित आहार, व्यायाम तथा निर्विघ्न रूप से नींद प्राप्त हो। बच्चे को इस समय कम से कम १० घंटे सोना चाहिये। यदि ऐसा नहीं होता तो बच्चे का शारीरिक विकास उचित दिशा और गति से नहीं हो सकता। पुनः यदि शारीरिक विकास ठीक से न हुआ तो प्रायः चार स्थितियाँ क्रमशः स्वावलम्बन-भाव-विकास, ज्ञानार्जन का नव-कौशल, नव बौद्धिक-भूख और नव-सामाजिक कार्य, जिनके पार करने पर ही बच्चे के अन्दर 'परिश्रम-भावना' पैदा होती है, न होकर 'हीन-भाव' पैदा हो जाता है। यदि बच्चा शारीरिक तौर पर स्वस्थ न होगा तो उसके अन्दर स्वावलम्बन का भाव नहीं हो सकता। क्योंकि अस्वस्थ-अवस्था में प्रथम तो बच्चा स्वयम् ही इस योग्य

नहीं रहता कि वह सिर्फ आराम करने के और भी कुछ कर सके, दूसरे ऐसी अवस्था में अभिभावकगण भी बच्चे की हर माँग या जरूरत को शीघ्र ही पूरा कर दिया करते हैं। इसका फल यह होता है कि बच्चा अपने से कुछ भी न करने के कारण स्वयम् में कुछ भी कर सकने की शक्ति नहीं महसूस करता। वह परावलम्बी बन जाता है और यदि उसमें स्वावलम्बन नहीं तो वह नव-कौशल को सीखने को तैयार नहीं होगा। हम जानते हैं कि प्रायः कोई भी चीज बिना किये सही ढंग से नहीं आती। किसी भी नये कौशल को सीखने के लिए एक प्रमुख तरीका है 'भूल और सुधार का तरीका'। किसी भी काम को पहिले कुछ भूल के साथ करके फिर उसमें कुछ बुद्धि लड़ाकर धीरे-धीरे हम उसके सही ढंग को जान जाते हैं। यही सीखा हुआ ढंग नवकौशल है। इसीलिए यदि बच्चा परावलम्बी बना रहता है—अपने से कुछ करने की चेष्टा ही नहीं करता—तो उसको नव-कौशल ज्ञानार्जन में बड़ी कठिनाई होती है। इसी प्रकार यदि वह नव-कौशल नहीं सीख पाता तो उसमें नव-बौद्धिक भूख की कमी स्वाभाविक है। नया-नया कौशल सीखने से उनके प्रयोग की चेष्टा बढ़ती है। यही चेष्टा नव-बौद्धिक भूख की प्रतीक है। उपरोक्त स्थितियों के अभाव में सामाजिक सम्बन्ध नहीं पैदा होता। यदि व्यक्ति नयी-नयी जानकारियों का प्रयोग जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में करता रहता है तो उसके सामाजिक सम्बन्ध एवं कार्य स्वयम् ही बढ़ते जाते हैं।

उपरोक्त आवश्यकताओं की पूर्ति के अभाव में बच्चों में 'परिश्रम भावना' के स्थान पर 'हीन-भाव' पैदा हो जाता है।

(२) इस काल की दूसरी मूलभूत आवश्यकता है बच्चे को उचित लाड़-प्यार का मिलना। बच्चा इस समय अपने अध्ययन तथा खेल के लिये अभिभावक से मान्यता प्राप्त करना चाहता है तथा उनकी सहानुभूति-पूर्ण दृष्टि चाहता है; इससे उसमें नवकौशल, स्वावलम्बी भाव, नव-

बौद्धिक-माँग एवं सामाजिकता के भाव पैदा हो सकने में सरलता होती है। यदि बच्चे को अभिभावक से उचित प्यार न मिला या उसे उसकी क्षमता का विचार न करके अधिक जिम्मेदारी दी गई तो वह असामान्य स्थिति में हो जाता है और इस बात की बहुत ही सम्भावना हो जाती है कि वह अपराधी व्यवहारों को अपना ले। इस काल का सबसे सामान्य अपराधी व्यवहार चोरी करना है। इसका कारण वही है जिसका कि वर्णन पहले किया जा चुका है।

(३) बच्चे की सफाई में अभिभावक का पूर्ण सहयोगः— इस समय भी माता पिता को बच्चे की सफाई पर पूर्ण ध्यान देना चाहिये। इसकी जिम्मेदारी बच्चे पर ही न लाद देनी चाहिये क्योंकि बच्चा अभी इस योग्य नहीं रहता कि वह अपने से अपनी पूरी सफाई आदि कर या रख सके। यदि वह बगैर कंघी-तेल या ठीक से कपड़ा पहने हुए स्कूल में चला जाता है तो कक्षा के अध्यापक तथा अन्य बच्चों द्वारा-प्रेम पूर्ण दृष्टि का भागी नहीं हो पाता तथा उपेक्षा तथा तिरस्कार का पात्र बन जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि वह स्कूल नहीं जाना चाहता, वहाँ पर सिखाई गई चीजों को नहीं सीखना चाहता अथवा पढ़ाई के प्रति उदासीन हो जाता है।

(४) बच्चे को खेल के उन सभी साधनों की उपलब्धि होनी चाहिये जिनके द्वारा वह अपनी शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, साम्वेगिक एवं सामाजिक आवश्यकताओं की तृप्ति कर सके। शारीरिक विकास के लिए छल्ला, क्रिकेट, हाकी, फुटबाल तथा अन्य सामान जिनसे मांसपेशियाँ सुदृढ़, शरीर चुस्त तथा रक्त-प्रवाह ठीक प्रकार से हो सके, आवश्यक हैं। बौद्धिक विकास के लिये—कैरमबोर्ड, ताश, शतरंज, पतंग तथा विशेष प्रकार का लूडो (जिससे अक्षर एवं शब्दज्ञान-वृद्धि होती है) आदि का उपयोग किया जा सकता है। इन खेलों के द्वारा बच्चा उन नये कौशल को सीखता

है जिनके द्वारा वह विरोधी को पराजित कर सके। इन खेलों में बच्चा बुद्धि एवं स्मरण-शक्ति का प्रयोग करता है। साम्वेगिक विकास के लिये फन-बोट, सीढ़ी-साँप, गुड़िया, सी-सॉ तथा कुछ विशेष जिमनेजियम के सामानों का उपयोग किया जा सकता है। गुड़िये के खेल द्वारा बच्चे अभिभावकों के प्रति बने हुये तनावों का उन्नयन करते हैं। उनका इडिपसकॉम्प्लेक्स भी इस माध्यम से काफी दूर हो जाता है। वह गुड्डे एवं गुड्डी में लड़ाई कराकर बड़ा प्रसन्न होता है, ये गुड्डे तथा गुड्डियाँ उनके अभिभावकों के ही प्रतीक हैं। मानसिक विकास के लिये—सी-सॉ क्रिकेट, हाकी, फुटबाल, शतरंज तथा अन्य कई खेल सहायक होते हैं। इन सभी खेलों में हम देखते हैं कि उनको खेल के कुछ निश्चित नियमों का पालन करना पड़ता है और इस प्रकार उनमें 'उत्तमस्व' का निर्माण होता जाता है। इतना ही नहीं अपितु खेल में विजयी होने पर विजयी-भाव पैदा होने से उनका 'स्व' सशक्त होता है।

इसके अतिरिक्त उपरोक्त सभी प्रकार के खेलों से बच्चों में सामाजिकता का भी विकास होता है। वह 'सहयोग' तथा 'त्याग' करना सीखता है।

इस काल की विषम परिस्थितियाँ

(१) इस काल में यदि माता-पिता नहीं रहते हैं तो बच्चे के अन्दर, उचित लाड़-प्यार के अभाव में वे सभी विकार आ जाते हैं जो पहले की (इडिपल अवस्था) में, अभिभावक के अभाव में देखने को मिले थे।

(२) अभिभावक यदि अधिक सख्त है तो यह भी बच्चे के लिये कष्टदायक स्थिति है। बच्चे अभिभावक के प्रति आक्रोश हो जाते हैं। परिणामस्वरूप जब वे स्कूल जाते हैं तब इनके आक्रोशभाव पिता से स्थानान्तरित हो करके अध्यापक पर चले जाते हैं। ऐसे बच्चे न तो अध्यापक से पढ़ना चाहते हैं और न तो उनकी कुछ सलाह या आदेश ही

सुनना चाहते हैं। अभिभावक का जरूरत से ज्यादा मुलायम होना भी उनके विकास में बाधक है जैसा पहले देख चुके हैं।

(३) **अध्यापक का कठोर होना:**—यदि विद्यालय का अध्यापक कठोर होता है तो बच्चा विद्यालय जाना नहीं चाहता और किसी दबाव वश यदि जाता भी है तो अपनी बातों को अध्यापक के सामने रख नहीं पाता। हमेशा डरा करता है। कुछ सीख नहीं पाता और न तो सीखने की जिज्ञासा ही विकसित होती है। इतना ही नहीं अपितु अध्यापक की कठोरता की प्रतिक्रिया में कुछ अमान्य या अशिष्ट व्यवहारों को भी अपना लेता है।

(४) यदि (बालक या बालिका) बच्चा घर से दूर छात्रावास आदि में रहता है तो उसके अन्दर उन विकारों के आ जाने की सम्भावना है जो कि अभिभावक के वियोग से जनित परिणामों में देख चुके हैं।

(५) **परीक्षा में असफल होना :**—एक तो इस काल में बच्चा स्वेच्छया स्कूल जाना ही नहीं चाहता, दूसरे यदि वह परीक्षा आदि में असफल हो जाता है तो शंकालु हो जाता है और पढ़ना ही नहीं चाहता। पढ़ाई के प्रति उसमें अनेक प्रकार की आशंकाएँ घर कर जाती हैं।

सामाजिक कार्यकर्ता के कार्य

(१) सामाजिक कार्यकर्ता को चाहिये कि वह अभिभावकों को समझाएँ कि बच्चे की मूलभूत आवश्यकताएँ क्या हैं और उन्हें वे कैसे पूरा करने में योगदान दे सकते हैं। बच्चों को उचित लाड़-प्यार की जरूरत रहती है। यदि पिता उचित लाड़-प्यार नहीं देता अथवा ज्यादा सख्ती या नम्रता के साथ व्यवहार करता है तो बालक स्वयम् से ही आनंद लेने की भावना से प्रेरित होकर हस्तमैथुन करने लगेगा अथवा निष्क्रिय, परावलम्बी या एकांत-प्रेमी हो जायेगा।

(२) कार्यकर्त्ता को चाहिये कि अभिभावक को सचेत करे कि इस उम्र में बच्चे के सामने किसी अप्रिय या हृदय-विदारक घटना का जिक्र न करें अन्यथा उसके मानस पर इसका बड़ा कुप्रभाव होता है। कभी-कभी तो वह इस अप्रिय घटना के सम्बन्ध में बड़ा ही अन्तर्द्वन्द रखता है। इसका परिणाम यह होता है कि बच्चे की श्रवणेन्द्रिय एवं दर्शनेन्द्रिय में दोष आ जाता है। ये शारीरिक दोष मानसिक एवं साम्वेगिक कुस्थिति के कारण हो जाते हैं।

(३) सामाजिक कार्यकर्त्ता को बच्चे के माता-पिता को सुझाव देना चाहिये कि यदि बच्चा 'अतिसक्रिय' हो जाता है या उसके अन्दर उद्विग्नता है तो वे उसके साथ सख्ती का व्यवहार न करें, उनको यह समझना चाहिये कि बच्चे में किसी शारीरिक आवश्यकता की अतृप्ति रह गई है, अथवा वह किसी निराशा या क्रोधावेश को दबाकर रखने की चेष्टा कर रहा है। इसके लिये अभिभावकों को चाहिये कि बच्चे को खूब खेल-कूद करने की स्वतंत्रता दें तथा विद्यालय के अध्यापकों से आग्रह करें कि वे उसके साथ नरमी का व्यवहार बरतें।

(४) सामाजिक कार्यकर्त्ता को ध्यान रखना चाहिये कि यदि इस काल के बच्चों का कोई सामूहिक कार्यक्रम हो रहा हो तो —

(अ) कोशिश यह रहे कि खेल-कूद ऐसा हो जिससे कि बच्चों में स्वावलम्बन, बुद्धि प्रयोग, नव-कौशल तथा सामाजिकता का विकास हो।

(ब) कार्यक्रम ऐसे हों जिससे कि प्रत्येक बच्चे को व्यक्तिगत रूप से सम्मान मिल सके। यह ऐसी अवस्था है जिसमें कि बच्चा स्वतंत्ररूप से कार्य करना चाहता है और उसका श्रेय स्वयम् ही लेना चाहता है।

(स) उन्हीं खेलों को खेलाया जाय जिनमें कम समय लगे अथवा बीच-बीच में थोड़े अवकाश की व्यवस्था हो। ऐसा इसलिये होना चाहिये कि बच्चे की शारीरिक स्थिति ऐसी ही होती है कि वह एक ही कार्य या

कसरत को काफी देर तक नहीं कर सकता। वह हमेशा उछलना-कूदना, स्थान-परिवर्तन या खेल-परिवर्तन आदि चाहता रहता है।

(द) खेल अथवा पराजय आदि के समय सामूहिक कार्यकर्त्ता को बच्चे का उत्साहवर्धन करना चाहिये।

(ई) कुछ ऐसे भी खेल खिलाये जाने चाहिये जो कि 'शब्दाभि-व्यंजन' पर आधारित हों। इससे बच्चे, अपने तनाव, निराशा या आक्रोश को बाहर निकाल पाते हैं।

(५) प्रायः बच्चे इस काल में अनेक प्रकार की समस्यायें हमलोगों के सामने उपस्थित कर दिया करते हैं। इनमें से अधिकांश के कारण होते हैं—उनके अभिभावक, अध्यापक या समुदाय। ये जब उनकी क्षमता पर ध्यान नहीं देते तो बच्चे समस्याग्रस्त हो जाते हैं। उदाहरणार्थ—मान लीजिये कि एक 'अतिसक्रिय' बच्चा विद्यालय जाता है, और उसकी इस स्थिति से अध्यापक अनभिज्ञ है। इस स्थिति में इस बात की बहुत सम्भावना है कि अध्यापक इस बच्चे के साथ भी ऐसे व्यवहार करने पर उसी सख्ती से व्यवहार करे जिससे कि वह अन्य बच्चों से करता है। इसका फल यह होगा कि यह बच्चा अपनी आशंका, निराशा या आक्रोश को विशेष चहलकदमी या उछलकूद आदि के माध्यम से उन्नयित नहीं कर पायेगा और इसकी समस्या बढ़ती ही जायेगी। अतएव सामाजिक कार्य-कर्त्ता को इस दिशा में भी ध्यान देना चाहिए। उसे चाहिए कि अभि-भावकों, अध्यापकों तथा समुदाय के उन सदस्यों जिनके कि सम्पर्क में बच्चा प्रायः आता है, का ध्यान इस ओर आकृष्ट करे कि वे बच्चे से उसकी स्थिति के अनुरूप ही कार्य लें तथा उसके साथ वैसा ही आचरण रखें जो कि उसकी खामियों को मिटाने में सहायक हो तथा उसके स्वस्थ विकास के लिए आवश्यक हो।

अध्याय ६

किशोरावस्था

यह काल १२ वर्ष से लेकर १८ वर्ष की उम्र तक माना जाता है। यह एक प्रकार से बाल्यावस्था एवं प्रौढ़ावस्था के बीच का समय है। यह मानव-जीवन का सर्वाधिक उथल-पुथल का काल है। इस काल में किशोर कभी बच्चे जैसा और कभी प्रौढ़ या वृद्ध जैसा व्यवहार करता पाया जाता है। इससे एक यह दिक्कत पैदा हो जाती है कि उसके साथ अन्य लोग अपना व्यवहार-स्वरूप सरलतापूर्वक नहीं निर्धारित कर पाते। कभी-कभी अभिभावक किशोर में जिम्मेदारी के भाव देखने पर उससे अपने गार्हस्थ्य-जीवन में मदद की अपेक्षा करने लगते हैं, किन्तु कभी-कभी यह भी देखा जाता है कि वे उसकी समझ को अपूर्ण जानकर किशोर द्वारा सम्पादित हो सकनेवाले कार्यों को, उसकी इच्छा रहते हुए भी, नहीं सौंपते। इस प्रकार अभिभावक एवम् नववयस्क में एक प्रकार का संघर्ष बना रहता है। यौन, स्वतन्त्रता प्राप्ति एवं सामाजिक मूल्यों या मान्यताओं के सम्बन्ध में इसके अन्दर द्वन्द की स्थिति रहती है।

यह ऐसा काल है जिसमें कि जीवन के सभी कालों की विशेषताएँ पायी जाती हैं। मुखकामावस्था में आत्मरति के भाव से बच्चा अपनी जननेन्द्रिय से खेलता है। ठीक इसी प्रकार इस काल में भी किशोर अपना काफी समय दर्पण में मुख देखने में बिता दिया करता है।

गुद्कामावस्था में बच्चा स्वतन्त्रताप्रिय होता है। उसमें आत्म नियंत्रण के भाव होते हैं। वह माता पिता की गोद में रहना पसन्द नहीं करता। नीचे उतर कर घूमना या दौड़ना चाहता है। ठीक उसी प्रकार से इस काल में

भी नववयस्क स्वतन्त्रता प्रेमी होते हैं। वे अपने पास अपना कुछ निजी धन रखना चाहते हैं। इस धन-व्यय में वे किसी भी प्रकार का, किसी भी व्यक्ति का हस्तक्षेप पसन्द नहीं करते। वे अभिभावकों के बन्धन से मुक्त होना चाहते हैं तथा स्वतन्त्र रूप से कार्य करना चाहते हैं। अपने अध्ययन के विषयों के चयन में तथा पाठशाला-चयन में भी वे किसी का हस्तक्षेप पसन्द नहीं करते।

इडिपलकामावस्था में जिस प्रकार बच्चे में यौन सम्बन्धी जिज्ञासा रहती है और जिस प्रकार वह विपरीतलिंगी की ओर आकृष्ट रहता है ठीक उसी प्रकार आन्तरिक रूप से इस काल में भी किशोर किशोरी की तरफ तथा किशोरी किशोर की तरफ आकृष्ट रहती है तथा आपस में विवाह सम्बन्ध या यौन-सम्बन्ध स्थापित करना चाहती है किन्तु बाध्य व्यवहारों या मूर्तरूप में वे समलिंगी की ओर ही आकृष्ट होते देखे जाते हैं। इसका मात्र कारण यह है कि उसमें 'उत्तमस्व' का काफी विकास हो गया रहता है। इडिपलकामावस्था में जिस प्रकार बालक अपने पिता के प्रति आक्रोश के भाव रखते हुये और उसे अपना शत्रु समझते हुए भी, असहाय होने के कारण उसकी बातों को मानता है, ठीक इसी प्रकार इस काल में भी पिता के अनेक हस्तक्षेपों के कारण उससे आक्रोश होते हुए तथा उन दोनों में सामाजिक मूल्यों या मान्यताओं तथा स्वातंत्र्य सम्बन्धी विचार-दुराव होते हुये भी, नववयस्क शारीरिक एवं सामाजिक तौर पर पिता पर निर्भर होने के कारण उसकी आज्ञाओं या विचारों का अनुयायी बना रहता है। इन दोनों ही कालों में व्यक्ति के अन्दर अभिभावक के प्रति प्रेम-घृणा के दोहरे भाव पाये जाते हैं। तिरोहित कामावस्था में बच्चे अपने ही समान लिंगधारीमित्रों का साथ पकड़ते हैं। इस काल में भी यही बात देखने को मिलती है। चाहे किशोर हो या किशोरी वह अपने ही लिंग की बहादुर पूजा करना पसन्द करती है। वे अपने समान लिंग के ही देवी-देवताओं या महापुरुषों को अपना आदर्श

या गुरु मानना चाहते हैं। इस काल में की गई समलिंगी साथी से मैत्री विशुद्ध ईमानदारीपूर्ण होती है—यह पूर्णरूपेण वयस्क या प्रौढ़ व्यक्तियों की मैत्री से भिन्न है।

यदि हम इस काल के व्यक्ति के व्यवहारों का वर्गीकरण करें तो हमें निम्नलिखित मुख्यतः दो बातें परिलक्षित होंगी।

(१) बच्चा बने रहने की इच्छा।

(२) प्रौढ़ जैसा व्यवहार करने की चेष्टा कर अपने को प्रौढ़ सिद्ध करने की कोशिश करना।

इन दो प्रकार की इच्छाओं से सरलता से यह समझा जा सकता है कि इस काल में सभी कालों के लक्षण देखने को मिलेंगे।

यह तो हुई किशोरावस्था की विशेषताओं की संक्षिप्त चर्चा। अब हम इस काल के व्यक्ति के विभिन्न पहलुओं पर थोड़े विस्तार में विचार करेंगे।

शारीरिक विशेषताः—इस काल तक किशोर के प्रकृति में आमूल परिवर्तन हो जाता है। जन्म के बाद प्रथम दो वर्षों तक 'वृद्धि' बड़ी तेजी के साथ होती है किन्तु फिर शिथिल पड़ जाती है। पर १० वर्ष की उम्र में किशोरी में और १२ वर्ष की उम्र में किशोर में यह 'वृद्धि' पुनः तेजी के साथ होती है।

जन्म के समय बालक बालिका से लम्बा होता है और उसकी लम्बाई की यह अधिकता लगभग १० वर्ष की आयु तक कायम रहती है। लगभग १० वर्ष की उम्र में बालक, बालिका लम्बाई में समान हो जाते हैं। पुनः ११ वर्ष से १४ वर्ष की उम्र तक किशोरियों की लम्बाई किशोरों से अधिक होती है। किंतु १५ वें वर्ष से किशोरों की लम्बाई अपेक्षाकृत पुनः अधिक होने लगती है और उनकी लम्बाई की यह अधिकता जीवनभर बनी रहती है।

यद्यपि अन्य कालों की तुलना में शरीर-भार तो अधिक बढ़ता ही है किंतु वह इस काल की कद वृद्धि की तुलना में पीछे ही रहता है। मांसपेशियाँ तेजी से बढ़ती हैं। शरीर की ग्रंथियों में तेजी के साथ विकास होता है तथा स्राव बनने लगते हैं। १२ वर्ष की उम्र होते-होते किशोरी के पखुड़े की कोह में बाल, सीने में स्तन का उभड़न तथा मासिकधर्म की शुरुआत हो जाती है। प्रायः प्रथम मासिकधर्म के बाद जननेन्द्रिय-क्षेत्र में भी बाल आने लगते हैं। किशोरों में १४ वर्ष की उम्र में पहिले पखुड़े की कोह में तदनन्तर जननेन्द्रिय-क्षेत्र में बालों का आना पाया जाता है। इसी समय उनके सीनेमें भी विशिष्ट तंतु विकसित होते हैं जिनकी वजह से सीने में उभड़न आ जाती है पर कुछ ही महीने बाद यह उभड़न अपने आप समाप्त हो जाती है। इस समय किशोर एवं किशोरी दोनों को जननेन्द्रियों के स्पर्श में एक विशेष प्रकार की अनुभूति होती है। इस समय किशोर की काम ग्रंथियों में तेजी के साथ स्राव बनने लगता है और फलस्वरूप स्वप्न-दोष की शुरुआत हो जाती है। किशोरों में स्वप्न-दोष तथा किशोरियों में मासिकधर्म की शुरुआत हो जाने से प्रायः लोग यह समझ बैठते हैं कि इनमें काम-परिपक्वता आ गई है किंतु शरीर-विज्ञान वेत्ताओं का कहना है कि इस समय किशोरियों के गर्भाशय की आकृति प्रौढ़ काल की आकृति की केवल ३०% रहती है। किशोरों के अंडकोष एवं किशोरियों के गर्भाशय का पूर्ण विकास तभी होता है जब शरीर-वृद्धि अपनी चरम सीमा पर पहुँचकर अपनी स्थिरता को प्राप्त हो जाती है। किशोरियों के शुरुआत के मासिक-धर्म के दिनों में प्रायः काफी अनियमतता रहती है। इससे उन्हें घबड़ाना नहीं चाहिये क्योंकि यह किसी रोग का लक्षण नहीं है। अभी उनके काम-सम्बन्धी अंग विकास की स्थिति में रहते हैं जिनका कि यह प्रतिफलन् है।

किशोरों में १५-१६ वर्ष की उम्र के पहिले परिपक्व शुक्त-कीटाणु यथेष्ट मात्रा में नहीं मिलते किंतु उनका बनना १३ वर्ष की उम्र से ही

प्रारम्भ हो चुका रहता है। इस काल में नव-वयस्क में परिलक्षित शारीरिक-परिवर्तन या ग्रंथियों के विकास का महत्व मात्र उसके शारीरिक गठन में ही नहीं अपितु साम्वेगिक तथा मानसिक-स्थिति में भी है। शारीरिक-परिवर्तन से ही उनमें अनेक प्रकार की मानसिक एवं साम्वेगिक भावनाएँ पैदा होती हैं—उदाहरणार्थ—काम-ग्रंथि के विकास से ही किशोर एवम् किशोरी यौन सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है, विपरीत-लिंगी की तरफ आकृष्ट होता है, अपने को प्रौढ़ जैसा सिद्ध करना चाहता है और उन्हीं सा अधिकार पाने की इच्छा रखने लगता है तथा परिवार के ही अन्य वरिष्ठ सदस्यों की भाँति अपनी राय को भी मान्यता दिलाना चाहता है।

मानसिक विकास :—शारीरिक विकास के साथ ही साथ इस काल में किशोर एवं किशोरियों का मानसिक विकास भी तेजी के साथ होता है। १८ वर्ष की उम्र में उनकी बुद्धि औसत दर्जे की हो जाती है। उसमें इस समय सभी कार्यों को करने की तत्परता आ जाती है। 'स्व' की 'ग्रहणात्मक' एवं 'प्रत्यक्षीकरण-क्षमता' काफी सीमा तक विकसित हो जाती है किंतु निर्णयात्मक क्षमता इनकी तुलना में अभी पीछे ही रहती है। 'स्व' १२ वर्ष की आयु में बड़ा शक्तिशाली होता है पर १६ से १८ वर्ष की उम्र होते-होते वह कमजोर होने लगता है। 'उत्तमस्व' किशोरा-वस्था के प्रथम चरण में काफी शक्तिशाली रहता है। इस प्रकार 'स्व' और 'उत्तमस्व' में महत् संघर्ष के फलस्वरूप किशोर एवं किशोरियों में प्रायः अपराधी भाव का जन्म हो जाता है। अब 'स्व' वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने में सक्षम होना प्रारम्भ कर देता है किन्तु वास्तविकता से विज्ञ होते हुये भी कभी-कभी वह स्वरक्षार्थ कुछ प्रतिरक्षात्मक क्रियाओं का सहारा लेता है किन्तु इन प्रतिरक्षात्मक क्रियाओं की विशेषता यह होती है कि वे स्वस्थ होती है। जैसे—'प्रज्ञावाद' आदि। पर जब स्थिति अत्यन्त विकट होती है और 'स्व' उससे स मायोजन स्थापित करने में अपने को असमर्थ पाता है तब अस्वस्थ प्रतिरक्षात्मक क्रियाओं को भी अपनाने लगता है।

इस काल में किशोर एवं किशोरी के शारीरिक परिवर्तन का उसकी मनः स्थिति पर बड़ा गम्भीर असर पड़ता है। अपने प्रथम-मासिक धर्म के कई महीने पहिले से ही किशोरी चिड़चिड़ी हो जाती है। वह माता के अनुशासन में नहीं रहना चाहती। वह माँ के बन्धन से मुक्त होना चाहती है तथा विपरीत लिंगी की तरफ खिंची-खिंची सी रहती है। किन्तु वह इस खिंचाव को सामाजिक भय वश प्रकट नहीं होने देना चाहती। वह इस समय चेहरे से बड़ी दबी और थकी हुई सी दिखलायी देती है। जरा-जरा सी बात पर वह दुःखी हो जाया करती है और सहेलियों से झगड़ जाया करती है। वह अच्छे पोशाक एवं श्रृङ्गार में रहना चाहती है।

साम्वेगिक विकासः—इस काल में किशोर एवं किशोरी को एक नये वातावरण और नई मान्यता में अपने को समायोजित करने की चेष्टा करने के कारण उसमें अत्यधिक साम्वेगिक तनाव देखने को मिलता है। इस समय किशोर अपने पिता से तथा समवयस्कों से खुलकर बातें करता है। वह उनकी बातों को वैसे ही नहीं मान लिया करता जैसे कि वे कहते हैं बल्कि अपनी भी राय जाहिर करता है। वह बहादुरों का पुजारी एवं प्रशंसक बनने लगता है किन्तु 'स्व' की 'वस्तु-निष्ठता-क्षमता' कम होने के कारण प्रायः गलत या अपने से बड़ों द्वारा चुने गये आदर्शमानों या व्यक्तियों से भिन्न चुनाव करता है। वह स्वतन्त्रतापूर्वक सभी मामलों पर अपना निर्णय देना चाहता है और स्वतंत्रता प्राप्त करना चाहता है किन्तु माता-पिता अभी भी उसे अपने संरक्षण में ही रखना चाहते हैं। उन्हें यह विश्वास नहीं रहता कि उनकी ये संततियाँ समाज की मान्यताओं के अनुरूप आचरण कर सकेंगी। इसके अतिरिक्त संतति के प्रति उनकी अत्यधिक लाड़-प्यार की भावना होने से वे उन्हें स्वतंत्र छोड़ने में समर्थ नहीं होते। यह किशोर पूरा जिद्दी होता है और उसे अपना ही निर्णय सही लगता है। इतना ही नहीं अपितु काम-ग्रन्थियों के विकास से उसकी साम्वेगिक स्थिति में और अधिक परिवर्तन आ जाता है। इस

समय वह बड़ा शंकालु रहता है, इसी कारण विद्यालय में उनका ध्यान पढ़ाई पर न रहकर कहीं और ही घूमा करता है। वह अपने ध्यान को केन्द्रित करने में असमर्थ रहता है और प्रायः सभी कार्यक्रमों में बड़ी बेचैनी का अनुभव करता है। इसका एक कारण उसके अनुकरण की कठिनाई है। वह समझ नहीं पाता कि क्या किया जाय और बड़ा ही किम्-कर्त्तव्यविमूढ़ रहता है। उदाहरणार्थ—जब उसके माता पिता उसमें इस मत का आरोपण करते हैं कि सभी जातियाँ बराबर हैं, सबसे प्रेम भाव रखना चाहिये और इसी के वशीभूत होकर वह किसी अन्तर्जातीय विपरीत लिंगी की ओर कामुकता वश खिंच जाता है और उससे विवाह सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है पर यदि अभिभावक नाक-भौं सिकोड़ने लगते हैं तो वह इस स्थिति से घबड़ा उठता है और कोई भी निर्णय निश्चित नहीं कर पाता।

इस काल में नववयस्क के सम्वेग बड़े तीव्र होते हैं। १४ वर्ष की उम्र में किशोर में तथा ११½ वर्ष की उम्र में किशोरी में काफी चिड़-चिड़ाहट आ जाती है। वे बहुत शीघ्र ही उत्तेजित हो जाते हैं। अपनी भावनाओं को संयमित नहीं रख पाते किंतु १५ वर्ष की उम्र होते-होते किशोर की अपनी भावनाओं में संयमन लाने की शक्ति बढ़ जाती है और १६ वर्ष की उम्र होते-होते वह प्रायः सभी समस्याओं को शांतिमय ढंग से सुलझाने की कोशिश करने लगता है।

क्रोध—यद्यपि किशोर को क्रोध इस काल में भी आता है किंतु अब के क्रोध के विषय बाल्यावस्था जैसे नहीं होते। बाल्यावस्था में बच्चे में आवेश या क्रोध तभी देखे जाते हैं जबकि वे खेल से या किसी अन्य कार्यक्रम में व्यस्त रहने से रोके जाते हैं या अन्य कार्य किये जाने के लिये प्रेरित किये जाते हैं। किशोरावस्था में क्रोध का विषय सामाजिक होता है। नववयस्क को उसके अन्य साथियों के सामने लजवाये जाने पर,

उसकी किसी प्रकार की आलोचना की जाने पर, उसके परम मित्र की आलोचना की जाने पर, उसको किसी इच्छित सुविधा से वंचित किये जाने पर, उसकी व्यक्तिगत सम्पत्ति जैसे उसकी निजी कलम, घड़ी या साय-किल को आघात पहुँचाये जाने पर अथवा उसकी योजना के कार्यान्वयन में घरवालों के बाधक होने पर उसे क्रोध आ सकता है। इस प्रकार एक बात हम यह देखते हैं कि इस काल में किशोर में आत्मस्थापन की भावना प्रबल रहती है। यदि उसकी यह इच्छा पूरी नहीं होती तो वह क्रोधावेष्टित हो जाता है। इसी आवेश के कारण इस उम्र के वे लोग जो प्रायः कम बोलते हैं, नाराज होने पर ऐसे स्थानों में तब तक के लिये चले जाते हैं जब तक कि उनका क्रोध शांत न हो जाय, जो कि एकांत या वीरान हों।

डर :—किशोर की बुद्धि का विकास हो जाने से अब वह इस योग्य हो गया रहता है कि उन वस्तुओं से जिनसे कि वह प्रायः पहिले भय खा जाया करता था अब नहीं डरता। अब वह विशेष सामाजिक-स्थितियों से ज्यादा डरता है; उदाहरणार्थ—किशोर एवं किशोरी अत्यधिक आदमियों की मौजूदगी में या अपरिचितों के बीच बोलने में तथा स्कूल के विषय या परीक्षा के प्रति काल्पनिक आशंकाओं के होने पर डरने लगती है।

ईर्ष्या :—इस काल में भी ईर्ष्या देखने को मिलती है। एक किशोर जिस समय किसी किशोरी की तरफ खिंचा रहता है और कोई दूसरा किशोर भी उसी किशोरी की ओर आकृष्ट हो जाता है तो पहिला दूसरे से ईर्ष्या करने लगता है। यदि परिवार के अन्दर उसके समान मान्यता एवं प्रतिष्ठा प्राप्त करनेवाला दूसरा कोई निकल जाय अथवा विद्यालय में कोई दूसरा उसी-सा सुन्दर एवं कुशाग्र बुद्धिवाला तथा अध्यापक का स्नेह-पात्र हो जाय तो भी पहिले नववयस्क में ईर्ष्या का भाव पैदा हो जाता है।

इस काल की ईर्ष्या की विशेषता यह है कि इसके परिणामस्वरूप किसी को शारीरिक-क्षति नहीं भोगनी पड़ती। यह मात्र शाब्दिक ईर्ष्या होती है। प्रथम में ईर्ष्या का फल मल्लयुद्ध तथा दूसरे में मात्र वाक्‌युद्ध है।

प्यार :—बाल्य-काल में प्यार की वस्तु खिलौने तथा पालतू जानवर आदि होते हैं किन्तु इस समय प्यार के विषय वे व्यक्ति होते हैं जिनसे किशोर का मधुर सम्बन्ध होता है तथा जिनसे वे स्वरक्षा-भाव प्राप्त करते हैं। वे, जिनसे प्रेम रहता है, उन्हीं के साथ पढ़ना, खेलना तथा अन्य जहाँ कहीं भी क्लब या अन्य स्थानों में उनके प्रेम-पात्र जाते हैं, उन्हीं के साथ जाना चाहते हैं।

प्रसन्नता :—किशोर या किशोरी जिस समय किसी परिस्थिति से समायोजन स्थापित कर लेती है अथवा परीक्षा आदि में सफल हो जाती है तो बड़ी प्रसन्न होती है। यों तो इस काल में किशोर हो या किशोरी, उनमें मुस्कराहट अक्सर देखने को मिलती है पर जोरों की हँसी प्रसन्नता-तिरेक में ही देखने को मिलती है। प्रायः किशोरी जब प्रसन्न होती है तब उसका गला भर जाता है तथा वाणी अरुझने सी लगती है।

जिज्ञासा :—इस काल में जिज्ञासा के विषय अनेक हो जाते हैं। नववयस्क में शारीरिक परिवर्तन आने से तथा ग्रंथियों का विकास होने से मनः स्थिति में परिवर्तन आता है। इन परिवर्तनों के प्रति अनेक प्रकार के प्रश्न उठते हैं।

हमारे देश में प्रायः १६-१८ वर्ष की अवस्था में ही वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित हो जाते हैं। नववयस्कों में इनके सम्बन्ध में तथा यौन-सम्बन्ध के प्रति बड़े विचित्र-विचित्र प्रश्न मन में उठा करते हैं। प्रायः इन जिज्ञासाओं का समुचित समाधान नहीं हो पाता।

बौद्धिक विकास :—साम्वेगिक विकास के अध्ययन के सिलसिले में हम देख चुके हैं कि इस काल में किशोर बड़ा ही जिज्ञासु होता है। उसकी यह जिज्ञासा उसके बौद्धिक विकास के लिए बहुत उपयोगी एवं आवश्यक होती है। किन्तु प्रायः उसकी यह जिज्ञासा कुचल दी जाती है और वह

इस साम्वेगिक अवरोध के कारण स्कूल के प्रति, अध्यापक के व्यवहार के प्रति, पढ़ाई के प्रति तथा परीक्षा आदि के प्रति बड़ी ही शंका तथा साम्वेगिक तनाव की स्थिति में रहता है।

इस काल की मूलभूत आवश्यकताएँ

इस काल की मूलभूत आवश्तकताओं में पहली भौतिक आवश्यकता है सन्तुलित आहार तथा कम से कम दस घंटे नींद की जिससे उसका समुचित शारीरिक विकास हो सके। दूसरी आवश्यकता मानसिक-पोषण की होती है। इस उम्र में किशोर जो कुछ कहता है उसके लिए मान्यता प्राप्त करना चाहता है—अतएव वह जब भी कुछ कहे तो उसे ध्यानपूर्वक सुना जाना चाहिए और उचित दिशा में उसका उत्साहवर्धन करना चाहिए। विद्यालय जाने के लिए अथवा परीक्षा में असफल होने पर उसे उत्साहवर्धन की आवश्यकता है। अध्ययन के विषयों के चुनाव में या निर्णय लेने में भी उसको पूरा अवसर देना चाहिए, दूसरों को कोई दबाव न डालना चाहिए। उसकी बुद्धि के विकास के लिए विभिन्न विषयों का अध्ययन-अध्यापन, भाषण, नाटक और वादविवाद आदि का उत्तम प्रबन्ध होना चाहिए। कामग्रन्थि के विकास या शारीरिक परिवर्तन के कारण किशोर के सामने इस काल में अनेक साम्वेगिक समस्याएँ पैदा हो जाती हैं। इस दशा में उसे आवश्यकता होती है कि इनके प्रति उनकी जिज्ञासाओं का समाधान किया जाय, उनकी तृप्ति की कोशिश की जाय और उन्हें काम सम्बंधी ज्ञान दिया जाय। किशोर १४ वर्ष में तथा किशोरी मासिक धर्म के ६ माह पूर्व बड़ी चिड़-चिड़ी हो जाती है। किशोरी माँ के और किशोर पिता के बंधन से मुक्त होना चाहता है तथा उनके अनुशासन में रहना उसे पसंद नहीं होता। इस दशा में उन्हें आवश्यकता होती है कि वे साम्वेगिक रूप से अपने अभिभावक से मदद पावें जिससे उनकी स्थिति में विकार न पैदा हो। अभिभावकों

को यह न समझ बैठना चाहिए कि उनकी संततियाँ नालायक हो गयी हैं और उन्हें सिर्फ डाँट-फटकार कर ही अनुशासन में लाया जा सकता है।

उपरोक्त इन्हीं आवश्यकताओं की तृप्ति हो जाने पर किशोर एवं किशोरी में तादात्म्य-क्षमता का निर्माण होना सरल हो जाता है।

यदि इन आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो पाती तो उनमें धर्म-सांकर्य की स्थिति आ जाती है अर्थात् वे समझ नहीं पाते कि उन्हें क्या करना चाहिए और क्या नहीं!

इस काल की विषम परिस्थितियाँ

(१) अभिभावक का अधिक सख्त या मुलायम होना—यदि अभिभावक अत्यधिक सख्त हैं तो किशोर एवं किशोरी की जिज्ञासा प्रायः कुंठित हो जाती है। वे अपने विचारों को अपने अभिभावक के सम्मुख रख नहीं पाते। उनकी स्वतंत्र रूप से काम करने की इच्छा अतृप्त रह जाती है जिसके कि परिणामस्वरूप उनका उत्साह जाता रहता है। वे अपने अभिभावकों के प्रति आक्रोश भाव रखते हैं और उनका यह आक्रोश उनके विभिन्न व्यवहारों यथा—अध्ययन से विराग, अध्यापक पर रुष्टि तथा कतिपय शरारती आचरण आदि के द्वारा समझा जा सकता है।

यदि अभिभावक आवश्यकता से अधिक नरम होते हैं और फलस्वरूप उनकी प्रत्येक इच्छा की पूर्ति किया करते हैं तो उनमें पराश्रयिता बढ़ती जाती है और वे नैराश्यको सहन करने की क्षमता को खोते जाते हैं। अथवा यों कहें कि उनमें वंचनाओं को सहन करने की क्षमता बन नहीं पाती।

(२) उनकी स्वयम् की अथवा परिवार-सदस्य की बीमारी—

इस काल में वे स्वतंत्र होना चाहते हैं और स्वयम् से बहुत कुछ करना चाहते हैं। किंतु जब वे बीमार हो जाते हैं तो उनकी इच्छा तृप्ति में

बाधा पड़ती है; वे बड़ी परेशानी का अनुभव करते हैं तथा उनमें नैराश्य एवं असफलता के भाव उठने लगते हैं जोकि 'स्व' को दुर्बल बनाते हैं।

(३) परिवार से पृथक् होना—इस काल में यदि किशोर एवं किशोरी परिवार से दूर, अध्ययन अथवा किसी अन्य कार्य से, हो जाते हैं तो वे बड़े दुःखी होते हैं। इस वियोग के प्रति उनके अन्दर नाना प्रकार के विचार उठते हैं। वे साम्वेगिक रूप से अपने को अरक्षित-सा पाने लगते हैं। इस अरक्षा के भाव का जन्म खासकर उन परिस्थितियों में होता है जबकि परीक्षा अथवा किसी अन्य कार्य में असफलता मिलती है और उसे कोई मानसिक पोषण देनेवाला नहीं होता। कभी-कभी इस वियोग का प्रभाव इतना अधिक होता है कि उनमें शारीरिक विकार तक पैदा हो जाते हैं। अजीर्ण, वमन होना, शौचाधिक्य होना तथा नाभि के पास मीठे दर्द आदि का होना इसके प्रतीक हैं।

(४) परिवार की आय कम हो जाना—इस काल में इनके लिए द्रव्य का बहुत महत्व है। वे इस द्रव्य को विभिन्न रूपों में समझते हैं। वे इसे प्यार, शक्ति तथा सम्मान आदि का प्रतीक मानते हैं। यदि उन्हें यथोचित पैसा नहीं मिलता तो उन्हें लगता है कि जैसे उनके माता पिता उन्हें नहीं मानते हैं या उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं।

कुछ निरुद्यमी किशोर परिवार या समाज में सुनने पर कि 'रुपये की माँ पहाड़ पर चढ़ती है,' रुपये को ही सब कुछ समझ लेते हैं। वे यह समझने लगते हैं कि रुपये के बल पर अपराधी को फाँसी के तख्ते से भी छुड़ाया जा सकता है। ऐसे नववयस्क द्रव्य को शक्ति का प्रतीक समझते हैं। उन्हें लगता है कि यदि उन्हें काफी धन मिल जाय तो वे भी बड़े शक्तिशाली हो जायँगे और वे शक्तिशाली बनना भी चाहते हैं। इसका कारण है उनका अपने अभिभावक से प्रतिस्पर्धी होना। वे अभिभावक जैसा ही कार्य और ख्याति अपने बल पर भी प्राप्त करना चाहते हैं। ऐसी दशा

में यदि परिवार की आर्थिक स्थिति खराब है तो वे बड़े निराश होते हैं। इसके अतिरिक्त वह गाँव घर में यह भी देखता है कि यदि कोई रुपये पैसेवाला धनी व्यक्ति आता है तो लोग उसका बड़ा सम्मान करते हैं। ऐसी स्थिति में कुछ बच्चे इस द्रव्य या रुपये को सम्मान का प्रतीक मान बैठते हैं और अपने पास भी कुछ निजी द्रव्य रखना जरूरी समझते हैं।

इसके अतिरिक्त उनकी यह स्वाभाविक इच्छा होती है कि वे अपने पिता की ही भाँति खर्च करें तथा अपने ढंग से रुपये का सदुपयोग करें। उनकी निजी कुछ आवश्यकताएँ भी रहती है, जिनको वे अभिभावकों से नहीं कहना चाहते तथा अपने पास के पैसे से ही उनकी तृप्ति करना चाहते हैं। ऐसी दशा में यदि घर या परिवार की आर्थिक स्थिति ठीक नहीं हो तो फिर उनके पास निजी द्रव्य का होना मुश्किल हो जाता है जिससे वे अपनी आवश्यकताओं की अतृप्ति के कारण निराश या उदास से रहा करते हैं।

(५) परीक्षा में असफल होनाः—परीक्षा में असफल होने से इनके उत्साह में भारी कमी आती है। परीक्षा सम्बन्धी अनेक आशंकाएँ पहिले से ही इनके अन्दर रहती हैं और फिर यदि वे इसमें असफल हो जाते हैं तो अपने सम्मान के प्रति तथा घर या गाँववालों के व्यवहार तथा विद्यालय के अध्यापक के प्रति बड़े शंकालु हो जाते हैं। उनकी यह शंका स्वाभाविक है। हम आप प्रतिवर्ष देखते हैं कि ये जब हाईस्कूल या जूनियर हाईस्कूल में असफल हो जाते हैं तो घरवालों से बढ़कर गाँव अथवा पड़ोसवाले उनकी हँसी उड़ाते हैं और नाना प्रकार की हतोत्साहित करनेवाली आलोचनाएँ करते हैं। कितने व्यक्ति तो इन्हीं आलोचनाओं के कारण घर अथवा पढ़ाई से विलग हो जाते हैं और कमजोर 'स्व' वाले तो आत्महत्या तक कर बैठते हैं।

(६) समाज की किशोरी एवं किशोर से प्रौढ़ जैसे आचरण की आशा रखना :—उनके लिये यह स्थिति भी अस्वाभाविक चाप की है

जिसमें समाज उनसे यह आशा रखने लगे कि वह प्रौढ़ जैसा आचरण करें जब कि हम जानते हैं कि ऐसा सम्भव नहीं है क्योंकि वे साम्वेगिक रूप से अपरिपक्व रहते हैं, उनके अन्दर बाल्यकाल जैसी भावनाएँ अभी भी मौजूद रहती हैं। इसी कारण वे प्रौढ़ जैसा आचरण नहीं कर सकते। किंतु उपरोक्त अपेक्षित आचरण के अभाव में समाज उन्हें मान्यता नहीं देता। ऐसी स्थिति में किशोरी एवं किशोर बड़ा दुःखी तथा निराश होते हैं। वे वस्तुस्थिति को समझ नहीं पाते तथा कुछ निर्णय ले सकने में कठिनाई महसूस करते हैं। वे अभिभावक या समाज से सहयोग नहीं प्राप्त कर पाते जोकि उनके विकास के लिए आवश्यक है।

(७) जीवन-साथी मन का न होनाः—यदि कोई इसी अवस्था में विवाहित हो गया हो और उसका जीवन-साथी मन के प्रतिकूल हो तो यह स्थिति उसके लिए अस्वाभाविक चाप की है। वह समझ नहीं पाता कि कैसे एक दूसरे के साथ समायोजन स्थापित हो। उसके लिए एक तो समायोजन स्थापित करना ही बहुत मुश्किल है; दूसरे यदि वह समायोजन नहीं कर पाता तो समाज में उपेक्षा की दृष्टि से भी देखा जाने लगता है।

इस काल में साम्वेगिक बाधाओं का परिणाम

(१) नींद में अत्यधिक स्वप्न का आनाः—इस काल में काम-ग्रंथियों के विकास होने से अत्यधिक कामुकभाव उत्पन्न होते हैं तथा काम सम्बन्धी जिज्ञासा भी बड़ी तेज रहती है। पर लोकलज्जावश व्यक्ति न तो इसे पूरी तौर पर व्यक्त ही कर सकता है और न तो अभिभावक की ही तरफ से इस पर कोई प्रकाश डाला जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि वह यौन या काम सम्बन्धी मामलों पर जरूरत से ज्यादा शंकालु रहता है। उसके अन्दर नाना प्रकार का डर बना रहता है। पर

जब चेतनमन निद्रावस्था में ढीला पड़ता है उस समय अचेतनमन की काम-सम्बन्धी दबी हुई इच्छाएँ स्वप्न के रूप में सामने आती हैं। किशोरी नींद में देखती है कि उसका किसी पुरुष द्वारा बलात्कार किया जा रहा है या वह मोटर पर बैठाकर कहीं दूर भगायी जा रही है। यदि वह माँ के प्रति 'आक्रोश' रही है तो देखती है कि माँ और उसकी लड़ाई हो रही है और लड़ाई में माँ पराजित हो गई है। किशोर भी इसी प्रकार स्वप्न देखा करते हैं। इसी भावना से प्रेरित स्वप्नों का दिग्दर्शन बहुधा विभिन्न प्रतीकों के रूप में होता है।

(२) शिक्षा सम्बन्धी कठिनाई:—कभी-कभी कोई किशोर इस कारण से भी अध्ययन से विमुख हो जाता है कि उसके मन में यह शंका पैदा हो जाती है कि उसे उसकी पढ़ाई का श्रेय इसलिए नहीं मिलेगा क्योंकि जितना तेज पढ़ने में वह है, उसके बराबर अथवा उससे कुछ अधिक ही उसका कोई बड़ा भाई या अति निकट का सम्बन्धी हो।

इसके अतिरिक्त वे किशोर जो काम-सम्बन्धी इच्छा व्यक्त करने पर मारे-पीटे गये हैं अथवा अपमानित किये गये हैं 'अपराध भाव' के शिकार हो जाते हैं। इसके फलस्वरूप न तो उनका पढ़ाई-लिखाई में मन ही लगता है और न तो वे विद्यालय ही जाना पसंद करते हैं। यदि वे विद्यालय जाते भी हैं तो कक्षा में बैठे-बैठे ऊँघते हैं अथवा पड़ोस के लड़कों से शरारत किया करते हैं। जो पुस्तकें कक्षा में लाना जरूरी होता है उसे वे स्कूल में लाना भूल जाते हैं, पृष्ठ-संख्या याद नहीं रहती, घर के दिये हुये काम ठीक से नहीं करते। अध्यापक द्वारा सावधान किये जाने पर जरा-सा मुस्तैद हो जाते हैं पर शीघ्र ही पूर्ववत् आचरण करने लगते हैं। परिणाम यह होता है कि वे अच्छी बुद्धिलब्धि के होने पर भी परीक्षा में असफल हो जाते हैं और फिर निराश होकर पढ़ाई तक छोड़ देते हैं।

सामाजिक कार्यकर्त्ता के कार्य

(१) सामाजिक कार्यकर्त्ता को चाहिये कि वह अभिभावक को सचेत करे कि इस काल में नववयस्क को इतनी स्वतंत्रता दी जाय कि वह अपना कार्य क्षेत्र चुन सके। हाँ; इस चुनाव की सुविधा के लिये अपना जोरदार निर्णय न देकर उसका ज्ञान-विस्तार अवश्य ही करना चाहिये। उदाहरणार्थः—कोई किशोर गणित लेकर पढ़ना चाहता है किंतु अभिभावक को यह पसंद नहीं है, उसकी राय है कि वह संगीत पढ़े, और इसके लिये वह दबाव डाले तो ऐसी स्थिति में वह संगीत में कैसे तरक्की कर सकता है? अभिभावक को चाहिये था कि यदि वह पुत्र की प्रतिभा के उपयुक्त संगीत को समझता है तो उसे संगीत की उसके लिये उपादेयता और गणित की कठिनाइयों को बताये। फिर यदि तर्कों के आधार पर किशोर अभिभावक की बात मान ले तो ठीक है अन्यथा उसे गणित ही पढ़ने दिया जाय। यही बातें किशोरी के भी सम्बन्ध में हैं।

(२) सामाजिक कार्यकर्त्ता को चाहिये कि माताओं को सचेत करें और समझायें कि किशोरी ११-१२ वर्ष के बीच जब चिड़चिड़ी हो जाती है, माता-पिता का विरोध करने लगती है और शृंगार की ओर झुकी रहती है, उस समय वे उसके प्रति सख्ती का व्यवहार न करें। उसका यह आचरण स्वाभाविक है। माता नरम व्यवहार रखकर समायोजन करें।

(३) सामाजिक कार्यकर्त्ता को चाहिये कि पिता या अभिभावक को बताये कि जब किशोर १३-१४ वर्ष का हो जाय तब अन्य किस्से-कहानियों की भाँति यौन सम्बन्धी बातों की भी सुसंस्कृत चर्चा किया करें। व्यक्ति का कैसे विकास होता है, किस उम्र में क्या-क्या बातें होती हैं, क्या स्वाभाविक है अथवा क्या अस्वाभाविक है आदि बातों की जानकारी अभिभावक द्वारा उनको मिलनी चाहिये। इससे शारीरिक विकास

होने पर, किसी नयी अनुभूति के होने पर उनको कोई परेशानी नहीं होती। आमतौर पर हम देखते हैं कि यौन सम्बन्धी ज्ञान न रहने के ही कारण किशोर उस समय जबकि वे हस्तमैथुन करते हैं या स्वप्नदोष के शिकार हो गये रहते हैं, बहुत घबड़ाते हैं और नाना प्रकार की कल्पनायें करते हैं। वे सोचते हैं कि इससे शारीरिक क्षति होती है और भयंकर रोग भी हो सकते हैं। इस प्रकार वे मन ही मन बड़े चिंतित और उदस रहने लगते हैं किंतु वास्तविकता ऐसी कुछ नहीं है। यह तो रज-वीर्य निर्माण का एक लक्षण है। इससे शारीरिक क्षति रंचमात्र भी नहीं होती।

(४) इस काल में किशोरों को प्रेरित करना चाहिये कि वे ऐसे खेल खेलें जिसके द्वारा "सामूहिक भाव" का विकास हो।

(५) प्रायः किशोरावस्था के प्रथम चरण में जिस समय शारीरिक परिवर्तन का होना तेजी से जारी रहता है, वह अनेक प्रकार की शिकायतें करता रहता है, वह कभी सर में दर्द, पेट में दर्द या अन्य प्रकार की शारीरिक गड़बड़ी बदलाता है। उस समय अभिभावक उचित ध्यान नहीं देते हैं। वे कहते हैं कि बेकार में ही कह रहा है पर सामाजिक कार्यकर्त्ता को इस दिशा में अभिभावक को सचेत करना चाहिये क्योंकि इस प्रकार की शिकायतों के पीछे वास्तविकता भी जुड़ी रहती है। प्रायः उपरोक्त गड़बड़ियाँ समय के अनुसार अनुपयुक्त भोजन मिलने से होती हैं। संतुलित भोजन न मिलने पर शरीर में किसी प्रकार की कमी आ सकती है, अतएव उस समय उसे किसी चिकित्सक को दिखाना चाहिये और उसी के परामर्श के अनुसार भोजन की व्यवस्था करनी चाहिये।

किशोरी एवं किशोर को ध्यान में रखकर ऐसे विद्यालय में पढ़ाने के लिये अभिभावक को प्रेरित करना चाहिये जहाँ कि मनोरंजन तथा खेल-कूद आदि के साधन अच्छे हों। ऐसा न होने पर कुछ इस बात की सम्भावना रहती है कि विद्यालय का वातावरण पसंद न होने पर वे मदिरा

आदि नशीली चीजों के सेवन अथवा अन्य अभद्र आचरण के आदी हो जायँ और इन्हीं माध्यमों से अपना हानिकारक मनोरंजन करते रहें।

(७) जैसा हमने ऊपर देखा है कि द्रव्य का इनके लिये अत्यधिक महत्त्व है। अतएव कोशिश यह करनी चाहिये कि अपनी आर्थिक स्थिति को ध्यान में रखते हुए अभिभावक अपनी आय में से कुछ अंश इनको भी दिया करें। इससे वे अपनी पसंद के अनुसार खर्च कर सकेंगे और मानसिक एवं साम्वेगिक तौर पर संतुष्ट रहेंगे। इन पैसों के खर्च करने के तरीकों आदि का कुछ हल्का निर्देशन इनको अपने अभिभावकों से अवश्य मिलना चाहिये। कुछ किशोरी एवं किशोर तो ऐसे होते हैं जो स्वयम् ही या कुसंगत आदि के कारण कुमार्गगामी आदतों को अपनाने में इन पैसों का व्यय करने लगते हैं। अभिभावकों को समय-समय पर उनके व्यय की मदों पर ध्यान देते रहना चाहिये। यदि वे अच्छी मदों में व्यय करते हैं तो उन्हें प्रोत्साहित करना चाहिये और यदि बुरे मदों में तो, इस क्षेत्र में हतोत्साहित।

अध्याय ७

पूर्व-प्रौढ़ावस्था

यह काल १८ वर्ष से लेकर २४ वर्ष तक माना जाता है। इस समय व्यक्ति बौद्धिक रूप से पूर्ण विकसित हो गया रहता है। अब वह सामान्य समस्याओं को स्वयम् सुलझा सकता है। वह अपनी अभिरुचि, इच्छाओं एवं आशाओं के प्रति जागरूक रहता है। उसकी काम-ग्रंथियाँ एवं रस-स्रावी मंजूषायें पूर्ण विकसित हो चली रहती हैं और इसी कारण इस अवस्था का व्यक्ति संतति प्रजनन में समर्थ होता है। उनमें इसके लिये आवश्यक परिपक्वता आ गई रहती है। इस समय वह समाज का एक उत्पादक अंग बन गया रहता है। इस उम्र का व्यक्ति बगैर सहयोग के अपने को इस दुनिया में जीवित रख सकने में करीब-करीब पूर्णरूपेण समर्थ होता है। इस समय तक उसके जीवन के कुछ मित्र बन गये रहते हैं। यदि अब तक उसके जीवन-साथी नहीं बन पाते तो समझना चाहिए कि उसका समुचित विकास नहीं हो सका है। यह मानव-जीवन का स्वर्ण-काल है, क्योंकि इस समय व्यक्ति का जितना बढ़िया स्वास्थ्य, सौन्दर्य तथा कार्यों में उत्साह होता है उतना अन्य किसी काल में नहीं। इस समय तक वह अपने को संस्कृति के अनुरूप चलाने में समर्थ हो जाता है। हाँ; कामवासना से अत्यधिक ग्रसित रहने तथा वीर्य अथवा रज-निर्माण-कार्य तेजी पर होने के कारण वह यौन सम्बन्ध के मामले में संस्कृति का उल्लंघन कर सकता है। यद्यपि यह इसके पूर्वकाल की तरह आसान नहीं होता, क्योंकि इस उम्र तक 'उत्तमस्व' पूर्ण विकसित तथा अनमनीय हो गया रहता है। इस काल के बाद 'उत्तमस्व' का विकास अत्यल्प होता है।

इस समय की मानसिक स्थिति यह रहती है 'अधम स्व', 'स्व' और 'उत्तम-स्व' में पूर्ण संतुलन आ गया रहता है। यदि अब तक व्यक्तियों में उत्तमस्व का निर्माण या समुचित विकास न हो पाया हो तो समझ लेना चाहिये कि वह आत्मविध्वंसक तथा समाज विध्वंसक होगा।

इस समय के व्यक्ति की सबसे ज्यादा अभिरुचि व्यक्तिगत शृंगार में रहती है। स्त्री पुरुष अपने-अपने को सजाने के फेर में पड़े रहते हैं। वे इस सजावट में सबसे ज्यादा व्यय कपड़े पर करते हैं। वे समझते हैं कि कपड़ा एक सम्मान तथा समाज में समायोजन का अच्छा साधन है। वे कपड़े के द्वारा ही शरीर की कमी की पूर्ति कर देना चाहते हैं और विपरीत लिंगी को आकृष्ट भी करना चाहते हैं। इस समय लोगों की प्रवृत्ति होती है कि वे अपने को किशोर अथवा किशोरी बतावें। वे अपनी उम्र, वास्तविक उम्र से कम ही दर्शाना चाहते हैं।

शारीरिक विकास के क्षेत्र में व्यक्ति अब इतना विकसित हो गया रहता है कि इसके बाद मोटेपन के अतिरिक्त उसमें शायद ही कोई परिवर्तन हो। यदि उचित भोजन, व्यायाम और मानसिक संतुष्टि व्यक्ति को मिले तो उसके शरीर का भार २० वर्ष की उम्र में काफी बढ़ जाता है। यदि किसी व्यक्ति का स्वास्थ्य नीचे दर्जे का है तो इसका अर्थ है कि वह अपनी परिस्थिति के साथ (वैवाहिक क्षेत्र, नौकरी धंधा या अन्य सामाजिक क्षेत्र में) समायोजन नहीं स्थापित कर पा रहा है।

व्यक्ति का सामाजिक विकास इस काल में अपने वातावरण के अनुरूप (जैसे कोई गाँव का निवासी हो और अन्य कोई शहर का निवासी हो तो क्रमशः गाँव और शहर की सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थिति के अनुरूप) हो चला रहता है। इस समय वह सभी सामाजिक कार्यक्रमों में पूरा हाथ बँटाने लगता है तथा मुस्तैद रहता है।

इस काल की मूलभूत आवश्यकताएँ

(१) व्यक्ति को संतुलित आहार-विहार मिलना चाहिये जिससे उसका शारीरिक-विकास समुचित रूप से हो सके। यदि इस काल में शारीरिक विकास समुचित रूप से न हो सका तो निश्चयेन शारीरिक सौन्दर्य सर्वदा के लिये नष्ट हो जायेगा।

(२) शारीरिक गठन के लिए यथेष्ट मात्रा में खेल एवं व्यायाम के साधन मिलने चाहिये।

(३) यद्यपि इस काल में व्यक्ति इस योग्य हो गया रहता है कि वह अपना निर्णय दे सके, अपने बल पर परिस्थिति से सामंजस्य स्थापित कर सके, किन्तु फिर भी कुछ परिस्थितियाँ ऐसी होती हैं जहाँ कि उसका 'स्व' सामंजस्य स्थापित करने में असमर्थ रहता है। इन स्थलों पर वह बड़ों के प्यार तथा कृपादृष्टि का इच्छुक रहता है और उनका मार्गदर्शन चाहता है।

यदि उपरोक्त आवश्यकताओं की तृप्ति होती रहे तो वह बड़ा उत्साही तथा सफल रहता है और तभी अपने जीवन का कोई अच्छा साथी बना पाता है अन्यथा निराशा और एकाकी का अनुभव करता है।

इस काल की विषम परिस्थितियाँ

(१) यदि इस उम्र में विवाह हो गया हो पर व्यक्ति साम्वेगिक रूप से तैयार न हो तो बड़ी चिंतनीय स्थिति रहती है। वह अपना धर्म नहीं निभा पाता और अपने जोड़े से समायोजन स्थापन में असफल रहता है। वैवाहिक सम्बन्ध मधुर नहीं रहता तथा यदि इसी बीच में उसे कोई संतति हो जाय तो उनका लालन-पालन भी सुचारुरूप से नहीं हो पाता; परिवार विश्रृंखलित सा होने लगता है।

परिवार के अन्दर अत्यधिक बच्चों का होना

(२) ऐसी स्थिति में बच्चों को सबका उचित लाड़-प्यार मिल पाने

में बाधा होती है। यदि संयुक्त परिवार रहता है तो हमेशा ध्यान रखना पड़ता है कि सबको समान प्यार मिले। सब बच्चों को समान भोजन तथा व्यायाम के साधन मिलें, जो कि अक्सर किसी न किसी से कम बेश साम्वेगिक लगाव के कारण कठिन हो जाता है।

(३) **आर्थिक संकटः**—यदि इस काल में घर की आर्थिक स्थिति ठीक नहीं रहती तो व्यक्ति बड़े निरुत्साही हो जाया करते हैं, क्योंकि इस काल में उन्हें व्यक्तिगत शृंगार, जीवनसंगी की इच्छा पूर्ति के लिए तथा यदि बच्चे पैदा हो गये हों तो उनके रहन-सहन को कायम रखने के लिए काफी रुपये की आवश्यकता रहती है।

(४) मनोवांछित नौकरी का न मिलना—ऐसी स्थिति में भी बड़ा कष्ट होता है। व्यक्ति का काम करने में मन नहीं लगता। समायोजन स्थापन में अधिक शक्ति खर्च होती है।

(५) समझ-शक्ति का निम्नस्तर का होनाः—ऐसी स्थिति में व्यक्ति समाज का उत्पादक अंग न होकर परोपजीवी हो जाता है, परिवार पर भार बना रहता है। काम धंधे में सफल नहीं हो पाता और अन्य परिस्थितियों से समायोजन स्थापित कर सकने में असफल रहता है।

सामाजिक कार्यकर्त्ता के कार्य

(१) सामाजिक कार्यकर्त्ता को चाहिए कि यदि व्यक्ति निराश, परेशान या किमूकर्त्तव्यविमूढ़ हो तो उसे 'वैयक्तिक सेवा' दें।

(२) सामाजिक कार्यकर्ता को चाहिए कि व्यक्तियों को ऐसे कार्यों के लिए प्रेरित करें जिनमें कि उनकी पूर्ण क्षमता का उपयोग हो सके।

(३) इस काल के व्यक्ति जिस समय आर्थिक संकट से गुजर रहे हों, उस समय सामाजिक कार्यकर्त्ता को चाहिए कि ऐसे सूत्रों का पता लगाकर उन्हें बतायें जहाँ से वह अधिक अर्थ लाभ कर सके।

—:※:—

अध्याय ८

मध्यम्-प्रोढ़ावस्था

यह काल २५ वर्ष से ४५ वर्ष तक माना जाता है। इस समय व्यक्ति सभी स्तरों पर पूर्ण विकसित हो गया रहता है। प्रायः यह व्यक्ति के जीवन का गार्हस्थ्य काल है। इस समय व्यक्ति समाज के ऊपर भार न रहकर उसके लिये एक सहायक के रूप में रहता है। वह अपने घर में या परिवार में प्रमुख सदस्यों में से हो जाता है। प्रायः सभी जगहों में उसकी मांग होने लगती है। उसको अपने कर्त्तव्यों के आधार पर प्रतिष्ठा मिलने लगती है। वह वास्तविकता को भलीभाँति समझने लगता है। वह अपने बाल-बच्चों की देख-भाल तथा शिक्षा आदि की पूरी जिम्मेदारी ले लेते हैं।

शारीरिक स्थिस्ति—इस समय व्यक्ति में पर्याप्त शक्ति तथा कार्यक्षमता रहती है। उसकी उत्पादन क्षमता अन्य कालों की तुलना में सर्वाधिक होती है। यदि वह इस काल तक इन गुणों से युक्त नहीं हो पाया है तो उसके अन्दर निश्चय ही सामाजिक अशक्ति का निर्माण हो जायेगा, अर्थात् उसमें कोई जीवन न रह जायेगा। वह शरीर से तो जीवित लगेगा किंतु उसमें उत्साह, अभिरुचि, कार्यकौशल तथा कर्त्तव्य-परायणता सभी का लोप होगा।

यदि इस काल में व्यक्ति का स्वास्थ्य ठीक नहीं है तो समझ लेना चाहिये कि वह अपने से अपेक्षित आशा के प्रतिकूल, समाज का एक उत्पादक अंग नहीं बन पायेगा। ४५ वर्ष की आयु होते-होते व्यक्ति की उत्पादन-क्षमता कम होने लगती है। इस उम्र तक फेफड़े, हृदय, गुर्दा एवं प्लीहा में कमजोरी का आना शुरू हो जाता है। इस काल में प्रायः

कार्डियोवेस्कुलरसिस्टम तथा मनो-समाजिकव्याधि अधिक देखने को मिलती है। भारतीय चिकित्सकों का आँकड़ा है कि इस कालमें जितने भी हृदय-रोग के मरीज आते हैं उनमें से $\frac{3}{4}$ तो ऐसे रहते हैं जिन्हें कि कुछ भी शारीरिक गड़बड़ी नहीं रहती। वे वहम-वश या साम्वेगिक अवरोध-वश अपने को हृदय का रोगी समझने लगते हैं।

भारत में प्रायः ४५ वर्ष की उम्र में तथा पश्चिमी देशों में प्रायः ५० वर्ष की उम्र से स्त्रियों का मासिक धर्म का होना बंद होने लग जाता है। इस शारीरिक परिवर्तन का प्रभाव सम्वेगों तथा मानस-पटल पर बड़ा तीक्ष्ण पड़ता है। इस समय स्त्रियाँ बड़ी बेचैनी का अनुभव करने लगती हैं तथा प्रायः समायोजन स्थापन करने में असमर्थ होने लगती हैं।

मानसिक स्थितिः—इस समय 'स्व' की क्षमता चरम सीमा तक पहुँच चुकी रहती है और 'स्व' तथा 'उत्तम स्व' में संतुलन बना रहता है। 'अधम स्व' की शक्ति गौड़ हो चली रहती है। इस समय व्यक्ति स्वयं की अभिव्यक्ति करने में पूर्ण समर्थ रहता है। इस काल में उसके अन्दर बड़ा उत्साह रहता है पर ४५ वर्ष की उम्र होते-होते वह कुछ परेशान दिखलायी पड़ने लगता है। उसमें बच्चों के प्रति तथा सम्पत्ति के प्रति मोह-ममता अत्यधिक बढ़ जाती है। संतति-ममता का एक बड़ा कारण यह होता है कि वह अपने को यह समझने लगता है कि वह अब नव संतति उत्पादन के योग्य नहीं रहा तथा स्व-स्वास्थ्य एवं सम्पत्ति को एक मात्र सम्भालनेवाली उनकी संततियाँ ही हैं।

बौद्धिक स्थितिः—व्यक्ति इस समय बौद्धिक स्तर पर भी पूर्ण परिपक्व हो जाता है। इस समय उसकी क्षमता इस दर्जे तक पहुँच चुकी रहती है कि नई परिस्थिति से समायोजन स्थापित कर सके तथा विभिन्न स्थितियों में रहते हुए भी साहस एवं धैर्य के साथ कार्य सम्पादन कर सके। वह इस योग्य हो गया रहता है कि समझ सके कि किसी भी समस्या

निर्माण के क्या कारण हैं और उनका औरों पर तथा उस पर क्या प्रभाव है। अब वह अपने कार्यों का सही मूल्यांकन कर सकता है। वह इस समय अपनी बुद्धि द्वारा नयी-नयी योजनाएँ बनाया करता है, उनके द्वारा अपना तथा परिवार या राष्ट्र की सम्पन्नता कायम रखना चाहता है। इस समय वह सोच सकता है या खोज कर सकता है कि खेती या उद्योग में कौन-से साधन अपनाए जायँ जिससे भी प्रगति अधिक हो या अन्य किसी देश के कल्याण से सम्बन्धित समस्या का क्या उत्तम हल हो। यदि इतनी शक्ति अब तक उसके अन्दर न हो पाई हो तो निश्चय ही समझना चाहिए कि इसके पूर्ववर्ती कालों में उसका विकास ठीक ढंग से नहीं हुआ है।

साम्वेगिक स्थिति—यदि शादी हर दृष्टि से समान स्तरवाले से हुई है तो वैवाहिक संबंध बड़ा मधुर रहता है। भारत के खासकर ग्रामीण क्षेत्रों में ऐसा देखा जाता है कि विवाह बहुत पहले हो जाता है। इतना ही नहीं बहुधा ऐसा भी होता है कि ग्यारह-बारह वर्ष की लड़की की शादी ९-१० वर्ष के लड़के के साथ कर दी जाती है। ऐसी स्थिति में इस उम्र में प्रवेश करते-करते वैवाहिक संबंध बड़ा अप्रिय हो जाता है। इसका कारण यह होता है कि पुरुष जैसी कामुकता तथा प्रेमालाप की भावना स्त्री में नहीं रह जाती।

परिवार में काफी बच्चों के हो चुके रहने पर स्त्री या पुरुष और अधिक बच्चे नहीं चाहते। किन्तु अभी भी बच्चे होते जा रहे हों तो उन्हें बड़ी परेशानी या घबड़ाहट मालूम होती है। इनके घबड़ाहट का एक रूप उस समय भी देखने को मिलती है जबकि उनकी उम्र पैंतालिस वर्ष की हो जाती है, उनके उत्पादक अंग शिथिल पड़ने लगते हैं, स्त्रियों का मासिक धर्म बंद होने लगता है।

इस काल के अंत समय में स्त्रियों के अन्दर कामुक भाव ज्यादा पैदा होते हैं। वे जानबूझकर अत्यधिक प्रसंग करना चाहती हैं, उन्हें लगता है

कि पता नहीं किस दिन या किस क्षण रज का आना बंद हो जाय अतएव जब तक ऐसी स्थिति नहीं है तब तक पूर्ण आनन्द भोग कर लिया जाय। पर इसी भावना पर उन्हें संतोष नहीं होता। वे बड़ी जिज्ञासु रहती हैं कि जाने क्या-क्या इसका और असर उन पर पड़ेगा। यहाँ तक कि इसी प्रकार के विचारों से अत्यधिक ग्रसित हो जाने के कारण कुछ स्त्रियाँ तो मानसिक संतुलन तक खो बैठती है तथा परिवार में निश्रृंखलता उत्पन्न कर देती है। इस समय उनके अन्दर निम्नलिखित दो प्रकार के लक्षण देखने को मिलते हैं :—

(क)—रंचमात्र भी मन के प्रतिकूल परिस्थिति देखने पर चिड़चिड़ा उठना या उसे बर्दास्त न करना।

(ख) समायोजन का अभाव।

इस काल की मूलभूत आवश्यकताएँ

(१) शारीरिक शक्ति को बनाये रखने के लिये व्यायाम की आवश्यकता है।

(२) प्यार एवं देखरेख की आवश्यकता है।

यद्यपि इस काल में जिस प्यार एवं देख-रेख की आवश्यकता होती है वह बाल्यावस्था जैसी नहीं है। इस समय का व्यक्ति पूर्ण समर्थ तथा शक्तिशाली होता है किन्तु जीवन में अनेक स्थल ऐसे देखने को मिलते हैं जहाँ वह पराजित होता है, निराश होता है और घबड़ा जाता है; ऐसे ही स्थलों पर उसे दूसरों से प्यार, मान्यता, उत्साह तथा मार्ग-निर्देशन की जरूरत होती है।

यदि उपरोक्त प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति हो गई हो और पहले के जीवन का विकास ठीक ढंग से हुआ हो तो इस काल का जो मुख्य काम है—'प्रत्युत्पादी शक्ति का निर्माण' उसमें सहूलियत होती है।

इसके अभाव में व्यक्ति के अन्दर रसहीनता पैदा हो जाती है, वह बड़ा वंचित-सा दिखलायी पड़ता है।

इस काल की विषम परिस्थितियाँ

(१) रोजगार की तलास करना—

रोजगार की तलास उसे नाना प्रकार की तीखी अनुभूतियाँ होती हैं, नाना प्रकार की निराशाएँ हाथ लगती हैं, और व्यक्ति घबड़ा उठता है।

(२) वैवाहिक सम्बन्ध को बनाये रखना—

इस सम्बन्ध को कैसे मधुर बनाया जाय, इसके लिए दोनों चिंतित रहते हैं। प्रारम्भ में कुछ समझ नहीं पाते तथा पुरुष एवं स्त्री एक दूसरे के साथ समायोजन स्थापित करने में अपनी कितनी पसदंगी, विचारधाराओं, मान्यताओं एवं उपसंस्कृति का त्याग करते हैं। इस त्याग में उन्हें कितना कष्ट होता होगा—यह समझा जा सकता है। यदि वे ऐसा नहीं करते तो सम्बन्ध का मधुर बनाना असम्भव है।

(३) बच्चों का न होना—इस काल में यदि बच्चे पैदा नहीं होते तो दम्पति बड़े दुःखी रहते हैं। वे कुछ समझ नहीं पाते कि क्या करें। उन्हें बड़ी अरक्षा मालूम होती है। वे सोचा करते हैं कि मेरे बाद मेरी सम्पत्ति का कौन अधिकारी होगा और वृद्धावस्था में कौन सहारा होगा? वे इस काल के अंत होते-होते यह भी सोचने लगते हैं कि अब तो बच्चे पैदा भी नहीं होंगे क्योंकि अब तो शीघ्र ही काम-ग्रंथियाँ शिथिल पड़ जायेंगी।

(४) परिवार में किसी को काफी स्थायी रोग का हो जाना, क्षय रोग, हृदय रोग अथवा रक्तचाप आदि—इस समय रोग के कष्ट तथा रुपये के अत्यधिक व्यय से तो व्यक्ति दुःखी रहता ही है साथ ही साथ इन भयंकर रोगों की चर्चा तथा उनसे जनित काल्पनिक परेशानियों से

और भी पस्त रहता है। यहाँ तक कि कभी-कभी वह इस स्तर पर भी पहुँच जाता है कि असामाजिक कृत्य करने को उद्यत हो जाय।

(५) बच्चे की मृत्यु अथवा एकाएक आर्थिक स्थिति का खराब हो जानाः—

बच्चे के साथ माता या पिता का अत्यधिक साम्वेगिक सम्बन्ध होता है। इस स्थिति में यदि बच्चे की मृत्यु हो जाय तो इनको बड़ा साम्वेगिक धक्का लगता है और वे मानसिक संतुलन खो से बैठते हैं। यदि वे मानसिक संतुलन बनाये भी रहें तो कम से कम इतना तो हो ही जाता है कि उनके पहिले जैसे उत्साह या शक्ति में कमी आ जाती है।

इसी प्रकार आर्थिक संकट आ जाने से भी वे समायोजन स्थापित कर सकने में बड़ी दिक्कत महसूस करते हैं तथा अपने को बड़ा अरक्षित पाते हैं।

(६) पुरुष का नपुंसक या स्त्री का बन्ध्या होना :—

ऐसी स्थिति में वैवाहिक सम्बन्ध बिल्कुल अप्रिय हो जाता है तथा त्याग या तलाक की स्थिति आ जाती है।

सामाजिक कार्यकर्ता के कार्य

१—सामाजिक कार्यकर्ता को चाहिये कि वह पुरुष तथा स्त्री दोनों को काम-ज्ञान सम्बन्धी साहित्य तथा ज्ञान उपलब्धि की परिस्थिति का निर्माण करे। पुरुष सामाजिक कार्यकर्ता इस कार्य को पुरुष-जगत के बीच तथा स्त्री सामाजिक कार्यकर्त्री स्त्रियों के बीच इससे सेवार्थी वस्तु स्थिति को समझ सकेंगे तथा स्त्रियाँ मासिक धर्म के बंद होने की आशंका की दशा को प्राप्त नहीं होंगी तथा समायोजन रखने में समर्थ रहेंगी।

(२) बच्चे की मृत्यु या सम्पत्ति के नाश की दशा में व्यक्ति को वैयक्तिक सेवा दी जानी चाहिये।

(३) इस काल में जो पुरुष नपुंसक या स्त्री वन्ध्या मिलें उनको भी वैयक्तिक सेवा दी जाय। प्रायः इस काल में देखा गया है कि पुरुष तथा स्त्री वगैरह किसी शारीरिक कमी के, मात्र साम्वेगिक धक्के अथवा अपराधी-भाव के कारण ही इस स्थिति को प्राप्त हो गये रहते हैं। ऐसे लोगों को वैयक्तिक सेवा के द्वारा उत्पादक बनाया जा सकता है।

(४) आर्थिक संकट से बचने के लिये या सुरक्षा का भाव बनाये रखने में समर्थ होने के लिए सेवार्थियों को कुछ ऐसी संस्थाओं का ज्ञान कराया जाना चाहिये जो कि उन्हें आर्थिक सहायता दे सकती हों अथवा ऐसे कार्य दे सकती हों जिनसे कि व्यक्ति अपनी आर्थिक स्थिति अपेक्षाकृत सुदृढ़ कर सके।

अध्याय ९

उत्तर-प्रौढ़ावस्था

व्यक्ति-जीवन में यह पैंतालिस वर्ष की अवस्था से ऊपर का समय है। वृद्धावस्था में बाल्यकाल का पुनः पदार्पण होता है। जो विशेषताएँ बाल्यावस्था में पाई जाती हैं लगभग वे ही सब पुनः इस काल में भी देखने को मिलती हैं। बाल्यावस्था में बच्चा जिस प्रकार मान्यता, प्यार तथा सुरक्षा प्राप्त करना चाहता है और सुखवादी भावनाओं से अत्यधिक प्रभावित रहता है—ठीक उसी प्रकार इस काल में भी व्यक्ति श्रद्धा, मान्यता तथा सुरक्षा का इच्छुक रहता है तथा साथ ही सुखवादी भावनाओं से अत्यधिक प्रभावित रहता है। यह भी छोटे बच्चों की ही भाँति मिठाई, फल-फूल तथा अन्य स्वादिष्ट चीजों को खाना चाहता है तथा चित्ताकर्षक चीजों को देखना चाहता है। बाल्यावस्था में बच्चा जिस प्रकार शारीरिक परिश्रम करने में समर्थ नहीं होता ठीक उसी प्रकार इस काल में भी वृद्धा या वृद्ध शारीरिक श्रम में असमर्थ रहते हैं। वे अपनी इस असमर्थता को अतीत की बातें याद कर-कर के भुलाये रखने का प्रयत्न करते रहते हैं। प्रायः वे कहते हैं 'जब मैं जवान था तब दो-दो मन का बोझा उठा लेता था और तुम सब क्या करोगे, अब वह समय भी नहीं रहा, बड़ा घी खाये हूँ' आदि। बाल्यावस्था में बच्चा जिस प्रकार दाँत रहित रहता है। ठीक वैसे ही व्यक्ति इस काल में भी होने लगता है।

शारीरिक स्थिति—इस समय स्वास्थ्य खराब हो जाता है। स्थायी रोगों का श्रीगणेश काफी अंश में देखने को मिलता है जिससे शक्ति एवम् उर्जा नष्ट हो जाती है तथा रक्त-संचार क्रिया, पाचन-संस्थान एवं मल-

विसर्जन क्रिया में गड़बड़ी आ जाती है। इस समय पाचक रसों का बनना बहुत कम हो जाता है तथा नींद भी ठीक से नहीं आती। इन्हीं कारणों से व्यक्ति की शक्ति दिनोत्तर कम होती जाती है। बाहरी आकृति में—दाँत गिरने लग जाते हैं तथा पैंसठ-सत्तर वर्ष की उम्र तक तो प्रायः सभी दाँत गिर जाते हैं। दाँतों के गिर जाने के कारण जबड़े छोटे हो जाते हैं और ठुड्डी बाहर निकल आती है, आँखें निस्तेज हो जाती हैं तथा ऊपरी पलक नीचे की तरफ काफी झुक जाती है। चमड़ों में झुर्रियाँ पड़ जाती हैं। सर के बाल सफेद हो जाते हैं। स्नायु-संस्थान में भी परिवर्तन आ जाता है, यहाँ तक की मस्तिष्क का भार इस समय कम हो जाता है। थोड़ा सा परिश्रम करने पर शरीर में पूरी थकावट आ जाती है। ज्ञानेन्द्रियाँ भी शिथिल पड़ जाती हैं। पैंतालिस-पचास वर्ष की आयु से ही आँख तथा कान अपने काम में शिथिल पड़ने लगते हैं और साठ-सत्तर तक जवाब दे सकते हैं। इस समय घ्राणेन्द्रिय भी कमजोर हो जाती है। पचपन-साठ वर्ष के बीच प्रायः रज एवं वीर्य का गिरना एवं बनना बन्द हो जाता है।

मानसिक स्थिति :—इस समय 'स्व' की ग्रहण क्षमता निम्नस्तर की हो जाती है। वह अनेक प्रकार की प्रतिरक्षाएँ प्रयोग करने लग जाता है जैसे—'प्रक्षेपण', 'प्रतीप-भावना' और 'प्रतिगमन' आदि। 'स्व' की शक्ति समाप्त होने लगती है। 'अधमस्व' तथा 'उत्तमस्व' दोनों प्रबल रहते हैं और यही कारण है कि इस काल के जीवन में बड़ा अन्तरद्वन्द रहता है। व्यक्ति बड़ा परेशान रहता है, अपनी कमजोरी को स्वीकार न करके अपनी हीनता को इस प्रकार प्रदर्शित करना चाहता है जैसे मानो वह बड़ा ही श्रेष्ठ हो। उदाहरणार्थ—पूरी वृद्धावस्था में आ जाने पर भी लड़कों या युवकों के सामने यह कहना कि 'अरे भाई ! दौड़ तो नहीं सकता हाथ-पैर में कमजोरी आ गई है पर अभी भी जिसका हाथ पकड़ लूँ तो फिर वह छुड़ा नहीं सकता।" पचास-पचपन वर्ष का व्यक्ति अपने

को वृद्ध या वृद्धा सुनना पसन्द नहीं करती। उन्हें बहुत बुरा लगता है यदि उन्हें कोई ऐसा कह दे। वे प्रायः कह बैठते हैं कि 'अरे अभी ही मैं क्या बूढ़ा हो गया !'

पचपन-साठ वर्ष की आयु होते-होते व्यक्ति अपने बच्चों के प्रति ज्यादा मुलायम हो जाता है। उनके प्रति उसका लाड़-प्यार अधिक बढ़ जाता है। वृद्धावस्था के उत्पन्न लड़के प्रायः अपेक्षाकृत अयोग्य होते हैं। परिपक्व यौवन काल के अभिभावक से सुलभ अनुशासन तथा शिक्षा आदि का लाभ वृद्धावस्था में जन्मे बच्चे नहीं उठा पाते। प्रायः वृद्धावस्था में बच्चे के पैदा होने के कारण अभिभावक उसे गलती करने पर भी प्यार ही देते रहते हैं—उसे निराश नहीं होने देते। किन्तु निराशा प्रगति की एक आवश्यक सीढ़ी है। यदि बच्चे को घर पर निराशा हाथ न आयी हो, उसकी सारी माँगें तथा जिद्दें पूरी की गई हों तो फिर बच्चा घर से बाहर आने पर पहले की आदत के ही अनुसार अपनी सभी माँगें पूरी करवाना चाहता है—जोकि प्रायः असम्भव होता है। ऐसी स्थिति में वह बाहरी समाज से अपना समायोजन स्थापित नहीं कर पाता और इस प्रकार से असामाजिक कार्यों की ओर प्रेरित हो जाता है।

इसके अतिरिक्त इस समय वृद्धों की खास मनोवृत्ति होती है कि परिवार की प्रबंध-व्यवस्था में उनका पूरा हाथ हो। उन्हीं की आज्ञानुसार सभी कार्य किए जायँ, चाहे वे कृषि सम्बन्धी हों या वाणिज्य सम्बंधी और चाहे शादी विवाह से ही सम्बंधित। यदि ऐसा नहीं होता तो वे बहुत दुःखित होते हैं चाहे उनके पुत्र अथवा पौत्र उनकी अपेक्षा अधिक अच्छी ही व्यवस्था क्यों न करते हों—वे संतुष्ट नहीं होते। उनको दूसरों की व्यवस्थाओं में खामियाँ ही खामियाँ दिखलाई पड़ती हैं। वे नाना प्रकार की आलोचनाएँ करते हैं—कहते हैं कि 'हमारे समय में यह काम इतने ही रुपये में हो जाता था, इतने ही आदमी कर डालते थे, इतना लाभ होता था—पर तुम सब चौपट कर रहे हो' आदि।

बौद्धिक स्थिति :—इस समय व्यक्ति अपने जीवन भर के संचित अनुभवों को अपने बच्चों तथा अन्य लोगों को देना चाहता है और इसी ज्ञान को किस्से कहानियों के रूप में सबको देता भी रहता है। इस अवस्था में ६० वर्ष तक तो प्रायः यह देखा जाता है कि बुद्धि संतुलित रहती है किन्तु उसके बाद लोग संतुलन खोने लगते हैं। उनमें अनेक मानसिक विकार पैदा हो जाते हैं। वे उचित निर्णय देने में असमर्थ हो जाते हैं। उनमें अनुकरण की क्षमता, स्वयं के कार्यों के मूल्यांकन करने की क्षमता तथा नव-कौशल-ज्ञान की क्षमता नष्ट हो चली रहती है। इसीलिए इस काल में समायोजन इनके लिए एक समस्या है। जहाँ तक अर्जित ज्ञान होता है उसी को वे पक्का एवं अकाट्य समझते हैं। पुराने सिद्धांतों एवं परिकल्पनाओं को निर्मूल सिद्ध कर देनेवाले नव ज्ञात सिद्धांतों को ग्रहण करना इनके लिए कठिन होता है। ये अपने समय में पढ़ी तथा सीखी गई बातों पर अडिग रहते हैं।

साम्वेगिक स्थिति—जो व्यक्ति इस आयु में परिवार में या उस समुदाय में जहाँ वह रह रहा है, समायोजन न स्थापित कर पाया हो, उसके अन्दर साम्वेगिक तनाव अत्यधिक देखने को मिलता है। वे शारीरिक परिवर्तन के कारण, बेकारी के कारण तथा परोपजीवी होने के कारण अपने को साम्वेगिक तौर पर बड़े अरक्षित पाते हैं।

इनकी यह अरक्षा की भावना ही इनमें संपदा के प्रति अत्यधिक लालसा बढ़ा देती है और वे अत्यधिक कृपण से हो जाते हैं। धन से इनका साम्वेगिक सम्बन्ध हो जाता है। ये अपनी बीमारी, बच्चे की बीमारी या अन्य किसी कष्ट में रुपया खर्च नहीं करना चाहते और यदि खर्च करते भी हैं तो प्रायः अत्यधिक मानसिक कष्ट के साथ।

इस समय व्यक्ति अत्यधिक चिड़चिड़ा, विरोधी तथा झगड़ालू स्वभाव का हो जाता है। घबड़ाहट तथा निराशा इसकाल की सामान्य

बात है। आर्थिक पराश्रयिता के कारण वह कुछ लज्जित, उदास तथा अप्रसन्न सा रहता है। इस प्रकार यह पूरा काल ही कष्टप्रद दिखलाई पड़ता है। कुशल यही है कि हमारी संस्कृति में कुछ बातें ऐसी हैं जो वृद्धों को आराम देती हैं जिनसे उनका जीवन कम दुखी हो पाता है। हमारी संयुक्त परिवार व्यवस्था ने उन्हें आर्थिक स्वरक्षा प्रदान कर दी है। परिवार में बड़े-बूढ़ों का ही अधिकार होता है। इसके द्वारा उनकी प्रबंध-इच्छा की पूर्ति होती है और वे निराश नहीं हो पाते। वे अपने अनुभवों से नववयस्कों तथा नव परिपक्वों का मार्ग-प्रदर्शन करके भी कुछ संतुष्टि प्राप्त करते हैं।

सामाजिक स्थितिः—पहिले के मिलनसार एवं सामाजिक व्यक्ति को इस काल में भी सम्मान एवं मान्यता सुलभ रहती है। सुदृढ़ आर्थिक स्थिति तथा विचारों में रूढ़िवादिता के स्थान पर नमनीयता होने पर व्यक्ति समाज में समायोजन बनाए रखता है और प्रसन्न रहता है; नहीं तो वह निराश ही रहता है तथा उसकी माँग नहीं होती। इस काल का व्यक्ति, जिन मान्यताओं, रूढ़ियों, परम्पराओं तथा सामाजिक मूल्यों के बीच से होकर गुजरा है उन्हीं पर दृढ़ रहना चाहता है, उनमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं चाहता। यदि वह परिवर्तन होते देखता है तो बड़ा विरोध करता है और यदि उसके विरोध को स्वीकार नहीं किया जाता तो अत्यधिक दुःखी होता है तथा समझता है कि ये नई पीढ़ी के लोग निर्योग्य हैं। उदाहरणार्थ 'एक ब्राह्मण-वृद्ध है। वह अपनी एक निश्चित सामाजिक मान्यता, मूल्य तथा परम्परा से होकर गुजरा है। वह कपड़े या जूता पहनकर भोजन करना या सभी वर्ण के साथ बैठकर भोजन करनेवाली मान्यता या परम्परा से होकर नहीं गुजरा है। आज भी वह इसमें परिवर्तन नहीं चाहता पर उसका लड़का जो एक नवीन मान्यता से होकर गुजर रहा है, जिसे कपड़े, जूते तथा जाति-पाँति का ध्यान नहीं है, तब फिर सोचिए कि उस वृद्ध की मनःस्थिति क्या होगी! वह काफी

निराशा, चिन्ता या व्याकुलता में ही जीवन बिताएगा।' कुछ तो इस स्थिति को बर्दाश्त नहीं कर पाते और घर तक त्याग देते हैं।

इस काल की मूलभूत आवश्यकताएँ

(१) इस काल की शारीरिक आवश्यकता है कि व्यक्ति शक्ति वर्द्धक तथा पुष्टिकारक भोजन पावे। भोजन में विटामिन बी एवं बी$_2$ की अत्यधिक मात्रा होनी चाहिए। इस समय पाचन-संस्थान में गड़बड़ी आ गयी रहती है। भोजन में द्रव पदार्थों यथा—दूध तथा फलों के रस आदि की प्रधानता होनी चाहिए। ये द्रव पदार्थ सुपाच्य हैं। पैंसठ वर्ष के बाद वृद्धों को सहायकों की भी जरूरत हो सकती है जिनके सहयोग से कमजोरी होने पर वे शौच-स्नान आदि सहूलियत से कर सकें।

(२) इनकी बौद्धिक आवश्यकता के अंतर्गत निम्नलिखित बातें आती हैं।

(क) साक्षरों को आवश्यकता रहती है कि वे पत्र-पत्रिका एवं समाचारपत्र आदि प्राप्त करें जिनसे वे नई-नई बातों से परिचित हो सकें।

(ख) उन्हें क्लब या इसी प्रकार के अन्य संगठनों की जरूरत है जहाँ वे समय-समय पर विचार-विनिमय कर सकें।

(ग) उन्हें ऐसे अवसरों की भी जरूरत होती है जबकि वे अपने अध्ययन एवं विचारों को दूसरों के समक्ष रख सकें।

(३) साम्वेगिक आवश्यकता में उन्हें आर्थिक तथा पारिवारिक सुरक्षा मिलनी चाहिए।

यदि उपरोक्त माँगों की पूर्ति होती है तब 'स्व' और 'उत्तमस्व' में पूर्ण संतुलन बना रहता है। व्यक्ति सभी काम वास्तविकता, ईमानदारी तथा जिम्मेवारी एवं पूर्ण आशा के साथ करता है—यही इस काल का मुख्य काम भी है। पर यदि ये आवश्यकताएँ अपूर्ण ही रह जाती हैं तो फिर उनमें गैरजिम्मेदारी, बेइमानी तथा अन्य अनपेक्षित कार्य की वृत्ति

करने तथा बढ़ने की अधिक सम्भावना रहती है जिसका कि प्रतिफलन् 'निराशा' में हो सकता है।

इस काल की विषम परिस्थितियाँ

(१) बच्चे की मृत्यु :—इस काल में यदि बच्चे की मृत्यु हो जाती है तो वृद्ध को बड़ी निराशा होती है और वह संतुलन खो सकता है। कुछ संस्कृतियाँ तो ऐसी स्थिति में वृद्धों को और भी कष्ट देती हैं। भारतीय संस्कृति में ऐसा माना जाता है या लोगों की धारणा हो गई है कि पिता के जीवित रहते यदि पुत्र मर जाता है तो इसका अर्थ है कि वह (पिता) बड़ा अभागा या पापी है। इसी जन्म से ही नहीं अपितु पूर्व जन्म से भी इसका सम्बंध जोड़ा जाता है। कहते हैं कि पूर्वजन्म के संचित कर्मों का ही यह फल है। भारत की इस प्रसिद्ध लोकोक्ति से कौन नहीं परिचित होगा कि 'बाढ़ै पूत पिता के धरमें, खेती उपजै अपने करमें।'

(२) दम्पति में से किसी एक की मृत्यु हो जाना :— दम्पति में से किसी एक की मृत्यु हो जाने से जीवित वृद्ध अथवा वृद्धा सहयोगिणी को बड़ा धक्का लगता है क्योंकि दोनों की मौजूदगी में एक दूसरे को साम्वेगिक सुरक्षा तथा शारीरिक तौर पर देख-रेख की सुविधा रहती है। भारतीय संस्कृति में यदि पुरुष स्त्री से पहले मर जाता है तो स्त्री अभागिनी समझी जाती है। उसकी गणना अब विधवा के अन्तरगत होने लगती है। उसे भी लोग उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं, शादी-विवाह आदि शुभ अवसरों पर उसे पहले नहीं रखा जाता। इतना ही नहीं यदि वह कहीं जाते समय आगे पड़ जाती है तो बड़ा अशुभ समझा जाता है। ऐसी स्थिति में सोचा ही जा सकता है कि पुरुष के पहले मर जाने पर स्त्री की क्या दशा होती होगी और वह किस प्रकार इस कष्ट को सहन करती होगी !

(३) **अत्यधिक गरीबी :**—वृद्धों के लिए यह स्थिति अस्वाभावी चाप' की है क्योंकि इस समय उसे अच्छे भोजन की जरूरत होती है जिससे शारीरिक शक्ति कुछ बनी रहे, पाचन तथा मलविसर्जन क्रिया में कष्ट न हो। इसके अतिरिक्त उसके अन्दर यह भी लालसा रहती है कि हमारे बच्चे ठीक से पढ़ लिखें तथा स्वस्थ रहें। पर गरीबी रहने पर उसकी एक भी आवश्यकता चाहे वह शारीरिक, मानसिक या साम्वेगिक कुछ भी हो पूरी नहीं हो पाती। फलस्वरूप निराशा एवं दुखभार से दबा हुआ वृद्ध चारपाई पर आह और कराह के साथ करवटें बदला करता है।

किसी भी व्यक्ति-जीवन की इस सांध्यिक अवस्था में अपेक्षित आवश्यक सहायता का कार्य, किसी भी सामाजिक कार्यकर्ता के लिये, पूर्व की प्रायः सभी अवस्थाओं की अपेक्षा, दुरूह होता है। इसका सबसे प्रमुख सर्वनिष्ठ कारण होता है—व्यक्ति में उम्र-श्रेष्ठिता के कारण श्रेष्ठ-भाव का आर्विभाव। प्रायः अधिकांश सामाजिक कार्यकर्ताओं की अवस्था या तो इस अवस्था के व्यक्ति से कम की होती है या लगभग समान की। इस कारण कार्यकर्ता को सेवार्थी पर प्रभावकर होने के लिये यह अत्यावश्यक है कि वह कुछ अतिरिक्त प्रतिभासम्पन्न एवं सामाजिक-प्रतिष्ठा प्राप्त व्यक्ति हो। यदि कभी सेवा-प्रदानन् का कार्य ऐसे व्यक्ति के लिये करना हो जोकि स्वयं काफी विख्यात एवं गुण और विद्यावान रहा हो तब तो उपरोक्त गुणों का सेवक में विद्यमान रहना अत्यधिक जरूरी होता है। इसलिए जब भी उत्तरप्रौढ़ावस्था के व्यक्ति की सेवा करनी हो तो—सेवा-संस्थाओं को यह ध्यान रखना चाहिये कि सेवक उपरोक्त गुणों से युक्त हो। समाज सेवियों को, वैयक्तिक सेवा, समूह-सेवा तथा अन्य कतिपय उपायों, जिनकी कि किञ्चित झलक पूर्व-पृष्ठों में दी जा चुकी है से, पूर्व कथित तथ्यों को ध्यान में रखकर, उत्तरप्रौढ़ों की सेवा करनी चाहिए।

०

पर्याय-सूची

हिन्दी	अंग्रेजी
अस्वाभावी चाप	Abnormal strss
अतिसार	Diarrhea
अपराध-भावना	Guiltfeeling
अति सक्रिय	Hyperactive
अनैच्छिक	Involuntary
अधम स्व	Id
असामान्य भय	Phobia
अपरा	Placenta
अंतः स्राव	Endo-crine-secretions
अंतः और बाह्य कोषाणु	Internal & External cells
आघातज अनुभव	Traumatic experience
आघात	Trauma
आत्मनियंत्रण	Autonomy
इडिपल-कामावस्था	Oedipal period
इडिपस-ग्रंथि	Oedipus complex
उपक्रम	Initiative
उन्नयन	Sublimation
उत्तमस्व	Superego
उद्विग्न	Fidgetiness
उद्विग्नतादौर	Temper Tantrum
उदरगुहा	Abodominal cavity

हिन्दी	अंग्रेजी
उपदंश, गर्मी	Syphilis
उत्तर-प्रौढ़ावस्था	Latematurity
कब्ज	Constipation
कलल	Morula
कलल-कोषाणु	Morulacell
कजपजिया-माता	Chickenpox
काटने की अवस्था	Bitingstage
किशोरावस्था	Adolescent Period
कोषाणु	Cell
गर्भावस्था	Prenatal period
गर्भाधान	Fertilization
गर्भकेन्द्र	Segmentation nucleus
गर्भाशय	Uterus
गर्भध्रुव	Emtryonicpole
गर्भपरिधि	Trophoblast
गालोमाता	Mumps
गाढ़ा गुलाबी	Deep-pink
गुद्कामावस्था	Anal period
ग्रहणात्मक एवं निर्णयात्मक क्षमता	Knowing and deciding capacity
चिकित्सा शास्त्रीय	Medical
छोटीमाता	Measles
जलकुण्ड, पानी का झोला	Bag of water
तदात्मीकरण	Identification
तादात्म्य	Identify

हिन्दी	अंग्रेजी
तिरोधान	Latency
तिरोहित कामावस्था	Latency period
द्वन्द्-भाव	Ambivalence
धर्म	Rol?
धर्म-सांकर्य	Rol?diffusion
परिपक्व डिम्ब, स्त्री बीज	Ovum
प्रतीप-भावना	Reactionformatic n
प्रतिगमन	Regression
प्रत्यक्षीकरण	Perception, Perceive
प्रकृति	Individuailty
प्रज्ञावाद्	Intellectualization
प्रजननकामावस्था	Genital period
पुरुष-धर्म	Malerole
पुनराश्वासन	Reassurance
पुरुष-पूर्वकेन्द्र	Malepronucleus
पूर्व-प्रौढ़ावस्था	Young adult-hood
पोषण	Support
बड़ी माता	Small-pox
बीजकोष, डिम्बकोष	Ovary
बीजवाहिनीनलिका	Fallopion-tube
भ्रूण	Embryo
मध्यम्-प्रौढ़ावस्था	Middle adul-thood
मानसिक पोषण	Psychological support
मुखकामावस्था	Oral period
मूत्रकृच्छ, सूजाक	Gonorrhea

हिन्दी	अंग्रेजी
मेरूडण्ड	Spinal chord
यौवन	Puberty
रक्तवाहिनी नाड़ियाँ	Blood vessels
रक्तसंवहन संस्थान	Circulatory system
वमन	Vomiting
वस्तु-निष्ठताक्षमता	Reality perceiving capacity
वंचित	Frustrated
विकास	Development
विरोध-भावना	Hostile feeling
विश्वास	Trust
वैयक्तिक सेवा	Case-work-service
वृद्धि	Growth
शरीर-रचना की दृष्टि से	Anatomically
शब्दाभिव्यंजन	Verbalization
शीर्ष	Head
शुक्रकीट	Sperm
शौच-शिक्षण	Toilet training
स्व	Ego
सामूहिक भावना	Team-spirit
स्त्री-पूर्वकेन्द्र	Female-pronucleus
संवाहिनी तंतु रचना	Umbilical chord
हीनता-ग्रन्थि	Inferiority complex

—:*:—

सहायक-ग्रंथ-सूची

क्रमांक	लेखक	पुस्तक
१.	टेलर, जे० लिओनेल	दि स्टेजेज ऑव ह्यूमन लाइफ
२.	गुट्मेचर ए० फ्रैंक	हैविंग ए बेबी
३.	फ्रॉल, आर० टी०	सेक्सुअलफिजिआलोजी ऐण्ड हाइजीन
४.	सो० सि० ऐड० चि० ब्यूरो, यू० एस० डिपार्टमेण्ट आव हेल्थ एजुकेशन ऐण्ड वेलफेयर	प्रीनेटल केयर
५.	,, ,, ,,	इन्फैण्ट केयर
६.	स्पाबेंजामिन	बेबीएण्ड चाइल्डकेयर
७.	स्टर्न केथेरिन, गोल्ड, टौनी एस०	दि अर्ली इयर्स ऑव चाइल्ड-हुड
८,	गेसैल, अर्नाल्ड	दि फार्ट फाइव इयर्स ऑव लाइफ
९.	यू० एस० डिपार्टमेण्ट ऑव हेल्थ एजुकेशन ऐण्ड वेलफेयर	योर चाइल्ड फ्रॉम वन टु सिक्स
१०.	बक्सबॉम	योरचाइल्ड मेक्स सेंस
११.	फ्रिज रेल, डर्ड वाइन मैन	चिल्डेन हू हेट
१२.	जॉस्लिन, आई० एम०	हैप्पी चाइल्ड
१३.	ब्लैक, फ्लॉरेंस, जी०	चाइल्ड हिज पैरेंट्स एण्ड दि नर्स

क्रमांक	लेखक	पुस्तक
१४.	न्यूटन, नील्स तथा अन्य	फैमिली बुक ऑव चाइल्ड केयर
१५.	वॉलेन्टाइन सी० डब्ल्यू०	दि नार्मल चाइल्ड ऐण्ड सम ऑव हिज ऐबनार्मिलिटीज
१६.	एरिक, एच० एरिक्सन	चाइल्डहुड ऐण्ड सोसाइटी
१७.	शेवॉर्ज बर्थोल्ड एरिक, र्यू-जिरी बी०	पैरेण्ट-चाइल्ड टेंसन
१८.	फ्रैंसेज एल०	चाइल्ड बिहेवियर

क्रमांक	लेखक	पुस्तक
१९.	ह्यूचर जे० डी०	योर चाइल्ड ऐण्ड हिज प्रॉबलेम
२०.	जॉस्लिन आइ० एम०	साइकोसोसल डे० ऑवचिल्ड्रेन
२१.	हर्लाक, एलिजाबेथ बी०	डेवेलपमेन्टल साइकोलाजी
२२.	इंगलिश, ओ० स्पर्जिअन तथा पियर्सन, जी०एच०जे०	इमोशनलप्रॉबलम ऑवलिविंग
२३.	बेटेलहीम, ब्रूनो	लव इज नॉट एनफ
२४.	कैप्लेन, गेराल्ड	इमो. प्रॉ. ऑव अर्ली चाइल्ड-हुड
२५.	विट्मन आदि	पर्सोनैलिटी इन दि मेकिंग
२६.	लिपमैन, हाइमैन एस०	ट्रीटमेण्ट ऑव दि चाइल्ड इन इमोशनल कॉन्फ्लिक्ट
२७.	जॉस्लिन आई० एम०	एडोलसेन्ट ऐण्ड हिज़ वर्ल्ड
२८.	हर्लाक, एलिजाबेथ बी०	ऐडोलसेण्ट डेवेलपमेण्ट
२९.	कुह्लेन रेमॉन्ड जी०	साइकोलॉजी ऑव ऐडोलसेण्ट
३०.	गैरिसन, कार्ल सी०	साइकोलॉजी ऑव ऐडोलसेंस
३१.	विलियम एच० मिकेल्सेल आदि	साइकोलॉजी ऑव ऐडजस्टमेण्ट
३२.	सॉल, लिआन जे०	इमोशनल मैच्योरिटी

३३.	अन्नाफ्रॉयड	इगो ऐण्ड दि मैकेनिज्म ऑव डिफेंस
३४.	क्रॉ, लेसर डी० तथा क्रॉ एहिक	मेण्टल हाइजीन
३५.	पैटी, विलियम एल० जॉन्सन एल० एस०	पर्सोनैलिटी ऐण्ड ऐडजस्ट-मेण्ट

———